वासन्ती

लेखक

पं० सुदर्शन लाल वैद्य शास्त्री 'सुदर्शन'

प्रकाशक

थम स्करण	सितम्बर १९५४	मूल्य २)

प्रकाशक—

चौधरी एण्ड सन्स

बनारस

मुद्रक—

गोपाल प्रेस, जालपा देवी

बनारस

१

"सुनो किशोर बाबू! आपने मेरा बलात् हरण कर अच्छा नहीं किया। मेरा तो सर्वनाश आपने किया ही, साथ २ उस बालबन्धु का, दांतकाटी रोटी का व्यवहार रखनेवाले अपने मित्र का भी जीवन अन्धकारमय बना डाला। जिस व्यक्ति ने अपने अभिन्न मित्र के साथ विश्वासघात किया, उसका विश्वास करना आँखों की ओट की बात नहीं। घर लौटने पर जब वे मुझे न पायेंगे तो उनकी क्या दशा होगी? इसे तुम्हारा जैसा अधम नहीं समझ सकता। मुझे तो ख्यालमात्र से रोमाञ्च हो आता है। मित्र ने ही मित्र की पत्नी का अपहरण किया है,

क्या यह बात वह सह सकेंगे। मेरे प्रति क्या वे अच्छे भाव रख सकेंगे? वे तो यही स्थिर कर लेंगे कि मैं भी इस घृणित कार्य में सहमत थी। यहाँ लाकर आप मुझे अपनी ओर आकर्षित करने के लिये विविध उपायों का आश्रय लेते हैं। परन्तु यह नहीं भूलना चाहिये कि सती स्त्री अपनी मानमर्यादा के लिये अपने को होम करने में तनिक भी नहीं हिचकती। आप समाज का भय दिखलाते हैं, पर हर तरह से अपने को पवित्र समझनेवाली स्त्री समाज से नहीं डरती। उस समाज की उसके आगे क्या बिसात, जो अन्धा है। एक ही लकीर पर चलता और अन्धन्याय करता है। समाज मुझे नहीं ग्रहण करेगा, इस दूषित विचार को पनपाकर, क्या मैं अपनी आत्मा को नाशवान वस्तु की भेंट चढ़ा दूँ? ऐसे निकृष्ट जीवन से एक साध्वी स्त्री मर जाना अधिक पसन्द करेगी। आप यदि अपना हित चाहते हैं और चाहते हैं कि आप पर कोई विपत्ति न आवे तो मुझसे दूर ही रहें। ...” कहते २ वह आवेश में काँपने लगी और दूसरी ओर मुँह फेर लिया।

“पर, कामिनी! मेरा प्रेम शुद्ध और सात्विक है। मैं तुम्हें हृदय से प्रेम करता हूँ। प्रेम में जानबूझकर वासना को स्थान देकर मैं प्रेम को कलुषित करने का पक्षपाती नहीं। तुम्हें देखकर ही मैं आत्मतुष्टि का अनुभव करता हूँ। मुझपर विश्वास करो। तुम्हारी पवित्रता पर तनिक भी आँच नहीं

आवेगी।" किशोर बाबू ने अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये विष में मिठास का थोड़ा पुट देकर, दूसरा और अन्तिम तीर छोड़ा।

कामिनी ने किशोर बाबू के इस नम्रतम बात को नहीं समझा, यह बात नहीं। उसने समझ लिया कि यह व्यक्ति सीधी तरह रास्ते से हटनेवाला नहीं। ठोकर की आवश्यकता है। सीढ़ी के पहले डण्डे पर चढ़ते ही, सीढ़ी खींच लेने में बुद्धिमानी नहीं, यह भी कामिनी भलीभाँति जानती थी। कौशल द्वारा उसे थोड़ा और ऊपर चढ़ाकर ही गिराने में भलाई है। यह विचार स्थिर कर उसने कहा "मैं तो आपकी परीक्षा ले रही थी किशोर बाबू! आपके इस स्वच्छ और अकपट प्रेम का तिरस्कार कर मैं अपने को तिरस्कृत होने देना नहीं चाहती। पर एक बात कहे बिना न रहूँगी कि पुरुष जाति महाकृतघ्न और मतलबी होती है। अपनी बीती बातें भुला देने में वह अपना गौरव समझता है, समझता है हम शासन करने के लिये ही अवतीर्ण हुए हैं, और इसी दर्प के भुलभुलैया में वह अपना सर्वनाश कर बैठता है, फिर भी स्वीकार नहीं करता कि मैंने जो कुछ किया है, बुरा किया है। यही कारण है कि विश्वास उठता जा रहा है और अविश्वास बढ़ता जाता है ...."

"पर मुझपर विश्वास करो, मेरी परीक्षा जैसे चाहो ले

सकती हो, मैं परीक्षा से पीछे नहीं भागूंगा।" आगे की बात को पीते हुये किशोर बाबू ने स्वस्थ होकर कहा।

"मैं तो समझती ही थी कि आप तुरन्त परीक्षा के लिये तैयार हो जायँगे। अच्छा तो जो कुछ मैं कहूँगी उसे स्वीकार करेंगे?"

"अवश्य! अवश्य!!" द्विगुणित उत्साह से वे चिल्ला उठे।

"तो ठीक है। मुझे भी आपके साथ रहने में कोई आपत्ति नहीं...।"

"फिर कह डालो। क्या कहना चाहती हो?" किशोर बाबू की अधीरता बढ़ गई।

"तो सुनिये! अपनी चल और अचल सम्पत्ति का दान-पत्र आज ही मेरे नाम लिख कर रजिस्टरी करा दें।" और उसने अपनी प्रज्वलित आँखें किशोर बाबू की ओर फेंकी।

किशोर बाबू को जैसे लकवा मार गया। विस्फारित और स्थिर दृष्टि से कामिनी की ओर देखते रह गये। कामिनी इतनी बड़ी और अनसोची परीक्षा लेगी, यह उन्होंने स्वप्न में भी नहीं सोचा था। एकाएक ऐसी बात उपस्थित हो जाने पर वे बगलें झांकते मालूम पड़े। परन्तु अधिक देर तक उनकी यह अवस्था नहीं रही। शीघ्र ही मन और मस्तिष्क को संयत कर लिया। सोचा, हर्ज ही क्या है? अपनी बनने को तो तैयार ही है, यदि नहीं भी होगी तो जबरदस्ती बनाऊंगा। फिर वह

सम्पत्ति जाती कहाँ है ! बाद में उल्टी सीधी समझाकर जाय-दाद अपनी कर लूँगा। स्त्री ही ठहरी। बुद्धि कितनी ? एक डाँट में तो देवता कूच कर जायँगे। अपने मनको अपने ही विचारों से सन्तुष्ट कर वे तपाक से बोले "मुझे स्वीकार है।"

कामिनी किशोर सिंह ताल्लुकेदार के बालबन्धु विमलेन्दु भट्टाचार्य की पत्नी हैं। भट्टाचार्य जी सम्पन्न और प्रतिष्ठित जमींदार होने के साथ २ इन्होंने एम० ए० तक शिक्षा प्राप्त की थी। विचार उच्च और उदार थे। पर सम्बन्धियों के हठ के कारण उन्हें पुलिस में नौकरी करनी पड़ी। अपनी कार्यपटुता के बल पर उन्होंने खूब उन्नति की और शीघ्र ही पुलिस सुपरिन्टेण्डेण्ट के पद पर पहुँच गये। इसी समय अकस्मात् पत्नी के लापता होने के समाचार ने उनके हृदय पर गहरा आघात किया। इस आघात को सहन कर, कार्य में जुटा रहना, उन्हें असम्भवसा मालूम पड़ा। एक दिन चित्त इतना खिन्न हुआ कि उन्होंने तुरन्त त्यागपत्र दे दिया, और बिना किसी को सूचित किये एकाएक कहीं चल दिये।

कामिनी के कथनानुसार रजिस्टरी हो गई। यह बात बाहरी दुनिया से बिल्कुल गोपनीय रखी गयी। अन्तःपुर के लोगों में यदि कोई जाननेवाला था, तो उनके अनुज सुरेन्द्रसिंह।

कचहरी से लौटने पर किशोर बाबू अपने बैठक में लेटे २

हुक्का गुड़गुड़ाने लगे। सन्ध्या की प्रतीक्षा में वे दस बीस बार चिलम चढ़वा चुके थे। कामिनी से शीघ्र मिलने की प्रतीक्षा में वे अधीर हो रहे थे। आखिर सन्ध्या आई। घर में दीपक टिमटिमाने लगे। किशोर बाबू उत्साह का अगम्य भण्डार लिये कामिनी के प्रकोष्ठ में घुसे। कामिनी ईश्वरोपासना से निवृत्त होकर ज्योंही घूमी थी कि किशोर बाबू को चारपाई पर बैठे देखा। वह आपाद-मस्तक सिहर उठी। शीघ्र ही जाते हुये धैर्य को समेट कर स्मित हास्य करती हुई वह बोली—"कहिये क्या आज्ञा है ?"

"कुछ नहीं केवल दर्शन के अभिप्राय से आया हूँ। आओ पास बैठो। बहुत दिनों से तृषित हृदय को प्रेमरस से सींचकर हराभरा कर दो कामिनी! अब अधिक प्रतीक्षा में न जलाओ। जलते हुये हृदय पर मधुर मुस्कान का छींटा देकर उसे शान्त कर दो।" कामिनी को उसी तरह निश्चल देख, वे चारपाई से उठ कर कामिनी की ओर बढ़े।

कामिनी ने आनेवाली विपत्ति का अनुभव किया। कुछ घबड़ाई, कुछ डरी। पर शीघ्र ही परमात्मा का स्मरण कर स्थिरता से बोली—"धैर्य का सीमोल्लंघन कभी २ अपने ही पक्ष में हितकर सिद्ध नहीं होता किशोर बाबू! सीमा की परिधि को लाँघना ही नाश है। इसलिये सीमा से बाहर जाने का प्रयत्न न करें। मुझे इस बात का दुःख है कि आप अपने

वचन को इतना जल्दी भूल गये। अभी कल की ही बात है। कल को भूल जाना क्या मनुष्य के लिये अच्छा है? मुझे आज एकादशी का व्रत है। व्रतभंग का एक दूसरा पाप मुझपर न लगे, इसे ध्यान में रखते हुए, आज क्षमा करें। कल मैं आप से खुलकर बातें करूँगी।"

"अच्छा! कल ही सही। एक दिन के हेर फेर में क्या रखा है। मैं तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध कोई काम न करूँगा, यह विश्वास रखो।" और किशोर बाबू ने एक भेदभरी और मतवाली दृष्टि कामिनी की मुखाकृति पर फेंकी। कामिनी की आँखें जमीन में गड़ी थीं। परन्तु उनकी प्यासी आँखें उसके सुगठित एवं लालिताङ्ग शरीर से जैसे सारा रस निचोड़ कर अपने में भर लेना चाहती थीं।

अकस्मात् कामिनी जैसे सोते से जगी। किशोर बाबू का वही स्वर 'अच्छा कल ही सही' उसके कानों में जैसे तप्त शला-का की तरह जा घुसे। वह तिलमिला उठी। बोली—"एक ही दिन में नया जीवन हो जाता है किशोर बाबू।" और वह तेजी से बगल के कमरे में चली गयी।

किशोर बाबू को कामिनी के इस प्रकार चले जाने से कुछ चिन्ता और आश्चर्य जरूर हुआ, परन्तु उसके कथन में जो कठोर सत्य निहित था, उसे समझने में उनका विलासी मस्तिष्क असमर्थ था। 'कल' की मधुर कल्पना का स्मृति-पटल

पर अंकित कर वे अपने कमरे में जाकर सो गये। यह भी भूल गये कि भोजन करना बाकी है।

खूब सोये। अँगड़ाई लेते हुए आठ बजे उठे थे। उनके अनुज ने आकर सूचना दी कि कामिनी घर से गायब है। विस्फारित नेत्रों से मुँह बाये, वे भाई की ओर देर तक देखते रह गये। वाक्शक्ति जैसे रुकती मालूम पड़ी—हृदय की धड़कन बन्द होती-सी जान पड़ी। एकाएक स्मृति लौटी और घबड़ाकर उठ खड़े हुए। बिना भाई से प्रश्नोत्तर किये कामिनी के कमरे की ओर लपके। विक्षिप्त की भाँति सब चीजें इधर उधर फेंकने लगे। उलट पलटकर चीजों के निरीक्षण में विशेष तत्परता दिखलाते हुए हाँफ रहे थे। आलमारी को खोला। उसमें की प्रत्येक वस्तु को दो २ चार २ बार देखा, परन्तु दानपत्र भी नहीं मिला। जोरों से माथा ठोक लिया उन्होंने। चप्पा २ जमीन खोजने पर भी उन्हें कोई काम की वस्तु न मिली। अकस्मात् उनकी दृष्टि दूर पड़े हुए एक कागज के टुकड़े पर पड़ी। कम्पित हाथों से उन्होंने उसे खोला। वह था कामिनी का पत्र। आँखों की पुतलियाँ पत्र की लाइनों पर नाचने लगीं। उसमें लिखा था—

प्रिय किशोर बाबू!

यह 'प्रिय' शब्द तुम जैसे नराधम और काम-लोलुप व्यक्ति के प्रति व्यवहृत करना, उस शब्द का दुरुपयोग करना है। पर

इस समय तुम्हारी अवस्था उस असहाय प्राणी की सी है, जो बहती हुई नदी के भँवर में पड़कर अपने उद्धार के लिए, उद्धारकर्त्ता की ओर कातर दृष्टि से देखता है। चन्द मीठे वचनों से ही उसे आशा बँध जाती है और वह शान्ति का अनुभव करता है। वही शान्ति इस समय तुम्हें चाहिये और इसी विचार से प्रेरित होकर मैंने इस शब्द का प्रयोग किया है।

तुम यह अच्छी तरह जानते हो कि मैं पवित्र रहते हुए भी समाज की दृष्टि में पतित हो गयी हूँ। समाज, लकीर के फकीर वृद्धों के हाथ में है, जिन्होंने अपनी सारी बुद्धि और मर्यादा समाज के हाथ बेच दी है, उनसे यह आशा करना कि मैं समाज में स्थान पाकर पति को पा सकूँगी, भारी भूल है। पर समाज के हाथ मैं नहीं बिकी हूँ। मुझे समाज की रत्ती भर भी परवाह नहीं, मुझे परवाह है अपने पत्नी-धर्म और सतीत्वकी। हजार मुसीबतें और ठोकर खाने पर भी मैं उन्हें अक्षुण्ण बनाये रखूँगी। मुझे यह मालूम हो गया है कि पतिदेव ने मेरे गायब होने के समाचार से विरक्त होकर नौकरी छोड़ दी है और अज्ञात दिशा की ओर उन्होंने अपनी जीवन-नौका छोड़ दी है। पर मैं उस नौका को ठीक दिशा में अवश्य लाऊँगी। उन्हें कहीं से न कहीं से ढूँढ निकालूँगी और उनके चरणों में अपने जीवन को चढ़ा दूँगी। समाज स्त्रियोंकी कमजोरी से यही दण्ड चाहता है—यही उसे दूँगी।

दानपत्र जो मेरे नाम लिखा था, उसकी मुझे रत्तीभर आवश्यकता नहीं। वह आप को वापस मिल सकता है, पर तब, जब कि मुझे यह विश्वास हो जायगा कि तुमने अपनी जीवन धारा बदल दी है—परायी नारी को माँ-बेटी समझने लगे हो। यदि उसी गंदे नाले में, जिसमें अबतक बहते रहे हो, बहते रहोगे तो मैं तुमपर विद्युत् की तरह टूट पड़ूँगी। यद्यपि मेरे रहने का कोई स्थान स्थिर नहीं, फिर भी छायाकी तरह मेरे अनुयायी तुम्हारे कुकर्मों पर नजर रखेगें। यदि मैंने सुना कि तुम और गिरते जा रहे हो तो तुम्हें हमेशा के लिये गिरा देनेका उपाय करूँगी। न रहेगा बांस, न बजेगी बाँसुरी!

इतना ही बस!

कामिनी—

पत्र पढ़ते २ वे केले के पत्ते की तरह कांपने लगे। शीतकाल में भी उनका शरीर पसीने से लथपथ हो गया। पत्र समाप्त करने पर भी वे पत्र की ओर देख रहे थे। कोई मार्ग उन्हें सरलता की ओर ले जाता नहीं नजर आ रहा था। सभी मार्ग जैसे उन्हें अगल बगल में पड़ने वाले गहरे गर्त में ढकेलने मालूम पड़े। आचारहीन और कर्तव्यच्युत व्यक्ति की जो दशा होती है, वही दशा इस समय इनकी थी। अतीत उनका जैसे गला घोटता मालूम पड़ा। अन्तर्प्रदेश में जो गहरी चोट लगी वह भयंकर 'आह' के रूप में बाहर निकला और उन्होंने दृष्टि

ऊपर उठाई। उस दृष्टि में था दया-आश्रय और प्रायश्चित्त की रूपरेखा। सुरेन्द्रसिंह बहुत देर से उनकी गतिविधि देख रहे थे। बड़े भाई की कामुक प्रकृति से उनको काफी घृणा थी, परन्तु उनका वश सीमित था। उसके बाहर जाकर उन्हें सचेत करना कठिन था। भाई से कैसे कहें कि यह दुराचार एक न एक दिन आप के अस्तित्व को भी ले बैठेगा। अन्त में वही हुआ जो विलास में डूबे हुए व्यक्ति की होती है। सब कुछ जाता रहा। सुरेन्द्रसिंह के हृदय में भाई के प्रति जो घृणा का भाव लहरें मार रहा था, वह दया के रूप में बदल गया। उनकी दयनीय अवस्था को देखकर उनका हृदय व्यग्र हो उठा। उन्होंने सान्त्वना मिश्रित स्वर में कहा—"भइय्या! किसी वस्तु के हाथ से निकल जाने पर, उसकी पुनर्प्राप्ति के लिये अपने मस्तिष्क और शरीर को कष्ट देने से क्या किसी ने उसे वापस पाया है? डर है और कुछ निकल न जाय। इसलिये अपनी ही ओर आनेवाले प्रवाह को बदल देने में ही बुद्धिमानी है।"

किशोर सिंह जैसे सोते से जगे। इन्हें अब तक यह न मालूम था कि मेरा भाई, मेरी गति विधि और मेरे सब कार्यों का निरीक्षण कर रहा है। उन्हें कुछ ग्लानि और क्षोभ, अपने अब तक के कार्यों पर हुआ। कातर दृष्टि से भाई की ओर देखते हुए उन्होंने कहा "फिर तुम्हीं बताओ क्या करूँ?"

"प्रायश्चित"

"किस प्रकार।"

"यह तो आप जानते ही हैं कि यह जमीन जायदाद अब आप की नहीं है। आप केवल अब रक्षकमात्र रह गये हैं। आप पूछेगें, मैं कैसे जानता हूँ? मेरी आँखों से आप के शुभ अशुभ कर्म अछूते नहीं रहे हैं। हृदय में भाई को सुमार्ग पर लाने की भावना ने मुझे छाया की तरह अनुसरण करने के लिये बाध्य किया। कई बार कहने के लिये आगे बढ़ा, पर साहस नहीं हुआ। छोटा होने के कारण अधिकार-विहीन जो था। अच्छा ही हुआ कि सम्पत्ति किसी स्वार्थी के हाथ नहीं पड़ी। अब उस सम्पत्ति को आप शुभ कर्मों में व्यय करें। हम आप केवल वेतन भोगी रहें। यही एक सुगम रास्ता है बदनामी से बचने का।

बिना सुरेन्द्रसिंह के परामर्श पर विचार किया टीकाटिप्पणी किये उन्होंने अपनी स्वकृति दे दी। सुरेन्द्रसिंह के कथनानुसार कार्य होने लगा। पर किशोरसिंह के हृदय पर जो चोट लगी थी-वह साधारण नहीं थी। आन्तरिक चोट की भी कहीं संसार में दवा है। उन्हें धड़कन की भयंकर बीमारी ने धर दबाया।

अकस्मात् एक दिन उनकी अवस्था अधिक खराब हो गयी। जीवित रहने की कोई आशा न देख उन्होंने अपने पुत्र रणबीर को बुलाया। उसके पीठ पर हाथ फेरते हुए उन्होंने कामिनी का पत्र उसके हाथ में दे दिया। बोले—"बेटा! यह जायदाद

जो तुम देख रहे हो, अब हमारी नहीं। दूसरे की धरोहर है। हम उसके रक्षक मात्र हैं। उस धरोहर को इधर उधर न होने देना वेतन से अधिक कभी खर्च न करना, पराई बहू बेटियोंको माँ बहिन की आँखों से देखना। यदि तुम मेरी सीख का उल्लंघन कर अपने मन का करोगे तो कामिनी का अन्तिम अंश सत्य होकर रहेगा—" और एक जोर की हिचकी आयी। घर के लोगों ने उपचार के लिये जमीन आसमान एक कर दिया, परन्तु परिणाम कुछ नहीं निकला। दिन के अवसान के साथ-साथ उनकी आत्मा भी इस नश्वर जगत को छोड़ कर उड़ गयी—न मालूम कहाँ ?

२

गंगा के घाट पर, सिर पर कलसी रखे एक बालिका आकर खड़ी हुई। इस समय सूर्यदेव, नदी के उस पार लालिमापूर्ण आकाश में अन्तर्ध्यान होने की तैयारी कर रहे थे। रक्ताक्त आकाश की रक्तिम आभा इस पार के वृक्षों, घाटों और सड़कों को भी जैसे अपने रंग में रंगने का असफल प्रयास कर रही थी। दृश्यावलि में लाल रंग उड़ेल कर मानों आँखों को ही लाल बना दिया था।

सन्ध्याकालीन वायु के थपेड़े खाकर गंगा की लहरें घाट से टकरा कर, एक विचित्र शब्द छोड़ती हुई लौट जातीं। टकराने

और लौटने का यह क्रम बालिका स्थिर दृष्टि से देख कर आनन्द का अनुभव कर रही थी। थोड़ी देर के लिये यह भी ध्यान न रहा कि कलशी भर कर घर वापस जाना है।

घाट से हटकर एक सरपत का झुण्ड थोड़ी दूर तक चला गया था। उसी की शीतल छाया में बैठा एक अभय नामक युवक, कटिया बन्शी से मछली का शिकार खेल रहा था। बड़ी २ तीन कटिया पानी में फेंककर तैरती हुई लकड़ी पर नजर गड़ाये अपनी धुन में मस्त था। गंगा के घाट से टकराती हुई लहरों के कोलाहल से भी, उसका ध्यान भंग नहीं हो रहा था।

सहसा शीघ्र अन्धकार हो जाने के भय से, लहरों में भूली हुई बासन्ती का ध्यान रिक्त कलशी पर पड़ा। सीढ़ियों पर काई जमी हुई थी। सावधानी से कई सीढ़ियाँ पीछे छोड़कर उसने पानी भरा। कलशी माथे पर रखकर ऊपर चढ़ने लगी। यद्यपि वह बहुत संभल कर सीढ़ी चढ़ रही थी, फिर भी एकाएक पीछे से आनेवाले एक विचित्र शब्द ने उसको पीछे घूमकर देखने के लिये बाध्य किया। वह घूमी ही थी कि उसका पैर बेकाबू हो गया। वह पिछलकर धड़ाम से गिर पड़ी। घड़ा फूटकर चूर २ हो गया। बासन्ती के मुँह से एक चीख निकल पड़ी।

अभय भी हठात् चौंक पड़ा, साथ ही साथ उसकी दृष्टि

घाट की ओर घूमी। अभी घना अन्धकार नहीं हुआ था, इसलिये उसे बालिका के पहचानने में देर न लगी। कटिया बन्शी को तो ऐसा छोड़कर, उस ओर दौड़ा, जैसे उन चीजों का कुछ अस्तित्व है ही नहीं। बासन्ती थोड़ी देर के लिये संज्ञाहीन अवश्य हो गयी थी, परन्तु शीघ्र स्वस्थ हो गई। अभय के पहुँचते २, वह उठने का प्रयत्न कर रही थी। हाथ पैर में काफी चोट आ गई थी, जिससे वह कुछ सहारा खोज रही थी। इसी समय अभय ने उसे सहारा देकर उठाया। अपने कन्धे का सहारा देकर घाट के ऊपर ले गया। एक ऊँचे स्थान पर बैठाकर उसका पैर हिलाने डुलाने लगा।

बासन्ती को कुछ कुछ लज्जा का अनुभव हुआ। उसने अभय का हाथ रोकते हुए कहा—"यह क्या कर रहे हो अभय भाई।"

"वही कर रहा हूँ, जो ऐसे समय पर किया जाता है।" लापरवाही से उसने उत्तर दिया और अपने काम में जुट गया।

"हैं! हैं! मानते क्यों नहीं? कोई घरका देख लेगा तो क्या कहेगा।"

अभय ठहाका मार कर हँस पड़ा। बोला—"पगली! तेरे घर में तेरा है कौन, जो तेरी खबर लेने आवेगा। विमाता है। विमाता के वश में पिता हैं। अपने कहे जानेवाले जब आँखें मूँद लेते हैं तो पराया ही मार्ग दिखलाता है। मुझे तूने

भाई के पवित्र नाम से सम्बोधित किया है। मैं उस नाम को असार्थक नहीं होने दूँगा। तुझे विमाता से लांछित होते नहीं देख सकूँगा।"

वासन्ती का हृदय विमाता के नाममात्र से सिहर उठा। निरंतर लांछित और अपमानित होने के विचार ने उसके हृदय को जैसे धक्का दिया। ऐसे समय में अभय के सान्त्वनापूर्ण और प्रेम मिश्रित बातों से उसका हृदय भर आया। आँसू आँखों की सीमा तोड़कर एक एक कर लुढ़कने लगे। वह अधीर हो उठी। अभय उसके सिर पर हाथ सहलाते हुए अवरुद्ध कण्ठ से बोला —"छिः पगली। रोती है। मुझे देखकर, अपना समझ कर भी रोती है। माता पिता के रहते हुए भी तू निराधार है, इस बात को अपने हृदय में कभी स्थान न देना। चल उठ, घर चल।"

"पर घड़ा..."

"ओह! भूल गया। उस दिन की बात अब याद आगयी, जब रसोई घर में जाते समय अकस्मात ठोकर खाकर गिर पड़ी थी। खौलते हुए गरम दूध से हाथ बेतरह जल गये थे। फफोला पड़ जाने पर भी तेरी माता ने यह विश्वास नहीं किया कि जान बूझकर दूध नहीं गिराया है। उस निर्दयी माता ने तेरे फफोले का तनिक भी ध्यान न कर, पाव भर दूध के लिये तेरे पीठ की चमड़ी उधेड़ ली थी। तू खाट पर कई सप्ताह पड़ी

रही। कोई नहीं पूछता था। मैं लुक छिपकर आता और आवश्यक औषधि आदि देकर चला जाता था। आज भी, मुझे विश्वास है, वह दो पैसे के घड़े के लिये और कुछ नहीं तो सैकड़ों गालियाँ उपहार में अवश्य देगी। अच्छा! थोड़ी देर यहीं ठहर! मैं नया घड़ा खरीद कर पानी भरकर लिये आता हूँ।" और वह बाजार की ओर दौड़ गया।

बासन्ती बैठी धीरे २ अपना हाथ पैर सहलाने लगी। रात्रि का अन्धकार धीरे २ बढ़ने लगा और दिवस की सफेदी रात्रि की कालिमा में परिणत होगयी। गंगा के वक्ष पर दौड़ती हुई नौकाओं के डाड़ों की छप-छप ध्वनि और मल्लाहों के मधुर गान चतुर्दिक गूँजने लगे।

बासन्ती को घबड़ाने का अवसर अभय ने नहीं दिया। वह शीघ्र ही पानी से भरा कलश लेकर उसके सामने आ उपस्थित हुआ और बोला—'चल बासन्ती! तुझे घर तक पहुँचा आऊँ।'

"नहीं अभय भइया! तुम्हारी इतनी ही कृपा मेरे लिये अलम है। अब और अधिक कष्ट तुम्हें नहीं देना चाहती।"

"ओह! ठीक कह रही हो तुम। मुझे बड़ा कष्ट हो रहा है। हाथ पैर में इतनी चोट लगी है, कि चला नहीं जा रहा है।" और वह लँगड़ाने का बहाना करता हुआ ठहाका मारकर हँस पड़ा।

बासन्ती ने भी उस हँसी में साथ दिया। थोड़ी दूर तक मौन चलने के पश्चात् उसने फिर कहा—"भइया! तुम्हारी कटिया-बन्सी तो रही जाती है।"

अभय को समझते देर न लगी कि वह मेरे उपकार और दया के भार को उठाने में असमर्थ हो रही है। इसीलिये इसने एक दूसरे उपाय का सहारा लिया है। सर पर एक हलकी सी चपत मारता हुआ वह बोला—

"चल-चल! आगे देख। पत्थर पड़ा है। कहीं इस बार गिर कर मुँह न तोड़ लेना। मेरे कटिया बन्सी की चिन्ता छोड़। मैं फिर आकर ले जाऊँगा।"

"ऐसे सुनसान जगह में तुम्हें रात में भय नहीं लगता।" आश्चर्य मुद्रा बनाकर बासन्ती ने पूछा।

"भय क्या है? यह तो मैं आज तक नहीं जान पाया। मुझे पिता ने डरने की शिक्षा ही नहीं दी। आजकल तो माता पिता बचपन से ही लड़कों को एक न एक बातों से डराया करते हैं। यही कारण है कि भारत के युवक और देशों की अपेक्षा अधिक कायर और डरपोक होते हैं।"

बासन्ती यद्यपि ग्रामीण कन्या थी, फिर भी अभय के बातों की गहराई को वह समझ रही थी। उसने जो सहारा लिया था, उसको गिरता देख वह चुप हो गई।

धीरे २ उसके पदचिन्हों का अनुसरण करते हुए वह घर

के द्वार पर आ पहुँची। अभय ने कलशी को पकड़ाते हुए कहा—"देखना ! विमाता की बातों को दुहराना नहीं। सावधान।"

और वह घूम पड़ा। बासन्ती ने अपने इस दयाशील सहचर के प्रति मन ही मन श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर घर में प्रवेश किया।

३

वृन्दा बाबू बंगाली का जन्म बागदी जाति में हुआ था, वासन्ती इन्हीं वृन्दा बाबू की कन्या थी। बागदी जाति के अतिरिक्त और जातियाँ भी इस गांव में थीं। बागदी जाति की संख्या अधिक थी और इनका एक अलग पुरा ही बसा हुआ था। प्राय: अधिकांश लोगों की जीविका कृषि से ही चलती थी। कुछ लोग, जिनके पास जमीन नहीं थी, पास के शहर में जाकर मेहनत मजदूरी करते थे और शाम को घर लौट आते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि गांव के सभी लोग खुशहाल और प्रसन्न थे।

बासन्ती वृन्दा बाबू के पहली स्त्री की सन्तान थी। उसने बारहवें वर्ष में ही प्रवेश किया था कि मां का निधन हो गया। वृन्दा बाबू को इस अकस्मिक चिन्ता ने व्यथित कर दिया। उन्हें चिन्ता केवल इसी बात की थी कि बासन्ती की देखभाल कौन करेगा? अकेले गृहस्थी का काम देखना और बासन्ती का ख्याल रखना, दोनों बातें उन्हें कठिन मालूम पड़ीं। इस कठिनाई को सरल करने का उन्हें एकही रास्ता मिला और वह दूसरी शादी करना।

दो तीन महीने के अकथ परिश्रम के बाद उन्हें एक स्त्री मिल ही गयी। जब वृन्दा बाबू शहर से दूसरी स्त्री चित्रा को ब्याह कर ले आये तो गांव के लोगों को महान् आश्चर्य हुआ। वृन्दावन की मौसी को तो यह नवीन विवाह बहुत ही अनहोनी और बुरा मालूम हुआ। उसने इसके विरोध में बहुत चिल्ल पों मचाया, परन्तु शादी हो चुकने पर क्या किया जा सकता था। बेचारी बकझक कर अन्त में चुप हो गयी। परन्तु हृदय में सुलगती हुई अग्नि ज्यों की त्यों बनी थी। उस अग्नि को शान्त करने के लिये वह गाली का सहारा लेकर प्रतिदिन वृन्दावन के लिये एक विचित्र समस्या उत्पन्न कर देती।

इस निरन्तर के गाली गलौज से वृन्दावन घबड़ा-सा गया। उसको गाली दिये जाने को तो वह बरदाश्त कर लेता, परन्तु नवीन पत्नी के प्रति ऐसा व्यवहार उसकी सहनशक्ति की सीमा के

बाहर की बात हो गयी। चित्रा शहर की थी। थोड़ी पढ़ी लिखी थी। उसे यह समझने में देर न लगी कि उसके पति ने शादी अपनी इच्छा से की है। अपने सम्बन्धियों के सम्मति का इन्होंने कोई मूल्य नहीं समझा, जिसका फल उसे भुगतना पड़ रहा है। पढ़ी लिखी होने के कारण उसने पति को वरगलाया। मीठी २ चुटकियों से वह पति को लज्जित करने लगी। इन चुटकियों का परिणाम यह हुआ कि बृन्दाबन की मौसी बासन्ती को लेकर पृथक रहने लगी।

बासन्ती को विधाता ने सौन्दर्य और मिष्ठ-भाषी दोनों गुण दिये थे। पहले तो चित्रा उसके रूप गुण पर आकर्षित हुई और मौसी के साथ अलग रहने का उसने तीव्र प्रतिरोध किया। परन्तु मौसी भी चित्रा से कम हठी न थी। उसने चिल्ला-चिल्लाकर शोर मचाना शुरू किया। बेचारा वृन्दाबन बैठक में से दौड़ा आया। दोनों ने अपना २ रोना सुनाया। वृन्दाबन ने पत्नी का पक्ष लिया। बोला—'बासन्ती मेरी लड़की है। मैंने सुख दुःख में इसे पाला पोसा है। वह अलग तुम्हारे साथ नहीं रह सकती। तुम्हारा इसपर कोई अधिकार नहीं। तुम यदि अलग रहना चाहती हो तो खुशी से रह सकती हो।'

मौसी वृन्दाबन की इन बातों को सुनकर आगबबूला हो गई। बोली—"तुमने इसे केवल पैदा किया है, परन्तु इसे मैंने आज छः वर्षों से खिलाया पिलाया और प्यार किया है। इसकी मां

के सदा बीमार रहने के कारण मैंने ही इसके सुख दुःख में रात-दिन एक किया है, तुमने नहीं। इसे ले जाऊंगी। देखूं, किसकी हिम्मत है रोकने की…" और वह बासन्ती का हाथ पकड़ कर घर से बाहर हो गयी। चित्रा और वृन्दावन मुँह ताकते रह गये। दोनों में से किसी का साहस न हुआ कि मौसी से बासन्ती को छुड़ा ले।

मौसी का लाड़ प्यार पाकर ही बासन्ती सुखी थी। उसे इस सुख के आगे, गार्हस्थ्य चिन्तायें और रोज २ आने वाली विपत्तियां हलकी मालूम पड़तीं, जैसे उनका कोई मूल्य ही न हो। परन्तु उसका यह जीवन भी विधाता न देख सका। एक वर्ष भी पूरा नहीं बीतने पाया था कि एकाएक विशूचिका से उसका देहान्त हो गया। बासन्ती के आगे अन्धेरा छा गया। वह फूट २ कर रोने लगी। कोई सान्त्वना देनेवाला नहीं था। एक अभय था जो उसका अनुसरण छाया की भांति किया करता था। मौसी के मृत्यु का समाचार लगते ही वह आ पहुँचा। उसे सान्त्वना देकर शान्त किया। अड़ोस पड़ोस के दो चार व्यक्तियों को बुलाकर उसका अन्तिम संस्कार करने घाट पर गया। संस्कार करके जब वह लौटा तो बासन्ती घर में नहीं थी। मालूम हुआ बृन्दावन आकर लिवा ले गया।

बासन्ती पिता के संग चली तो गयी, पर उसके दुःख का श्रीगणेश उसी दिन से आरम्भ हुआ। कभी २ मौसी उसका

साथ देने वाली थी। वह भी अब न रही। चित्रा मनमानी करने लगी। बृन्दावन का काम शहर से अधिक होता था, अतः वह अधिकतर शहर में ही रहता था। फिर तो चित्रा के लिये कोई अवरोध का मार्ग नहीं था। जी खोलकर उसे कोसती। इतने ही से सन्तुष्ट हो जाती तो भी ठीक था, पर नहीं! बृन्दावन जब शहर से लौटता तो नमक मिर्च मिला कर बात का बतङ्गड़ बनाती। फलस्वरूप उसे काफी झिड़कियां और मार सहन करनी पड़ती। इतना सब कुछ होने पर भी वह विमाता के प्रति कभी किसी से कटु बचन न कहती और न कभी भाग जाने का ही विचार मन में लाती।

बासन्ती, जो मौसी का प्यार पाकर उद्धत और नटखट हो गयी थी, अब शान्त और गम्भीर हो गयी। बिना किसी प्रतिवाद के माता पिता के अत्याचारों को सह लेने में ही वह अपनी भलाई समझती थी। कभी एक शब्द भी मुँह से नहीं निकालती थी। एक दिन ऐसा आया कि उसे मुँह खोलना ही पड़ा। बात यह हुई कि विमाता ने उसकी शादी एक वृद्ध से तय कर ली, जो उसका सम्बन्धी था। अपने इस निश्चय को जब उसने बृन्दावन के सामने रखा तो बासन्ती ने घोर प्रतिवाद किया। बृन्दावन ने तो पहले पुत्री के हां में हां मिलाया, परन्तु जब पत्नी ने बृन्दावन की ओर कड़ी चितवन से देखा तो उसका न्याय अधिक देर तक न टिक सका। वह जानता था कि चित्रा

की आँख रामदेव के धन पर है और इसी जायदाद के पाने के लिये ही वह ऐसा अन्याय और घृणित कार्य करने जा रही है, पर दूसरी पत्नी के आगे कौन अकड़ा खड़ा रह सका है? वृन्दाबन भी पत्नी के विरुद्ध नहीं हो सका। उसे ऐसा मालूम पड़ा जैसे उसका सारा पुरुषत्व पत्नी के पास धरोहर है। उसने इच्छा न रहते हुए भी विवाह स्वीकार कर लिया।

बासन्ती और अभय ने मिलकर, कितने ही जाति के चौधरियों और गाँव के प्रतिष्ठित लोगों के द्वार खटखटाये, उनसे इस अनमेल विवाह में हस्तक्षेप करने के लिये कहा, बहुत ऊँची नीची बातें समझाईं, पर किसी के कान में जूँ तक न रेंगी। सभों ने माता पिता के मामले में टाँग न अड़ाने का बहाना किया। दोनो निराश हो गये। अन्ततःनिश्चित तिथि को बासन्ती की शादी हो गयी। और जैसा चित्रा ने रामदेव के साथ तय किया था, रामदेव ने अपनी सारी जायदाद चित्रा के नाम लिख पढ़ दी।

रामदेव की पहली स्त्री से एक पुत्र था-नारायणदास। न्यायतः जायदाद उसे मिलनी चाहिये थी,परन्तु वृद्धावस्था में नव यौवना के मिलने की आशा ने उसके बुद्धि और आखों पर अन्धकार का मोटा आवरण डाल रखा था। उसने पुत्र की कुछ भी परवाह न की। परन्तु ससार में क्या एक भी ऐसा उदाहरण है कि किसी वृद्ध ने नवयौवना से विवाह कर सुख उठाया है? सभी शीघ्र कालकवलित हो जाते हैं। यह जानते हुए भी ऐसा करते हैं। इसे

मृत्यु का आवाहन ही कहा जा सकता है। रामदेव भी यह सुख तीन महीने से अधिक नहीं भोग सका। इसी अवधि में एकाएक उसकी हृदयगति रुक जाने से मृत्यु हो गयी और बासन्ती ने पुनः अपने विमाता के घर में प्रवेश किया।

यद्यपि वृन्दावन की जाति में विधवा विवाह की प्रथा प्रचलित थी, तथापि गाँव में द्विजातियों की देखादेखी उनकी जातिवालों ने भी विधवा विवाह को अनुचित करार दिया था। परंतु पुत्री का वैधव्य दुःख का स्मरण कर वृन्दावन कभी २ तिलमिला उठता। मन में निश्चय करता, मैं अवश्य उसकी दूसरी शादी करूँगा। जातिवाले थोड़े ही मेरी बेटी का दिन काट देंगे। असन्तुष्ट हों तो भले ही हों, मैं उनकी क्यों परवाह करूँ? क्या मुझे वे रोटी कपड़ा देते हैं कि उनसे डरूँ। इन्हीं सब विचारों से प्रेरित हो उसने एकदिन चित्रा की आँख बचाकर पुत्री के सामने, अपना विचार प्रगट कर ही दिया।

बासन्ती पिता के इस नम्रता को समझ रही थी। उसे लगा जैसे पिता उसके विरुद्ध जो कुछ करता है, विमाता के प्रभाव में आकर। उसे पिता के दयनीय अवस्था पर दुःख हुआ—उन्हें आसुओं से श्रद्धांजलि देती हुई वह बोली—"देखो दादा! आप लोगों ने मेरे हृदय के सारे अरमानों को बलिवेदी पर भेंट चढ़ा कर एकबार इच्छा के विरुद्ध शादी कर ही दी। यदि दूसरी बार फिर वही अत्याचार हुआ तो मुझे अब जीवित नहीं देख सकेंगे।"

अँचल के कोर से आँसू पोछती हुई वह पुनः बोली—"जाइये अपना काम देखिये। मैं जिसमें हूँ उसी में सन्तुष्ट हूँ। मुझे अब किसी सुख की लालसा नहीं। जो पा रही हूं वही यथेष्ठ है..." और वह आगे न बोल सकी। उसका हृदय बैठा जा रहा था। बरबस फूट फूटकर रोने के लिये वह अधीर हो उठी। पिता की ओर बिना देखे वह भीतर चली गयी। कब तक रोती रही इसका लेखा रखने वाला कोई न था।

पुत्री के मुह से निकले वाक्य यद्यपि सत्य थे, परन्तु उसमें अन्तरात्मा की वेदना का जो पुट था, वह पिता से छिपा न रहा। पुत्री के चले जाने के बाद तक वह विमूढ़सा वहीं बड़ी देर तक खड़ा आँसू बहाता रहा। एकाएक पत्नी की याद आते ही वह जैसे हिल उठा। पुत्री के दर्पपूर्ण बात को उसने गाँठ बाँध ली। म रे खुशी के वह सीधा घर से बाहर निकला। गाँव के प्रत्येक बिरादरीवालों के कानों में पुत्री का संदेश सुनाया "मैं दूसरा विवाह न करूँगी, यदि ऐसा होगा तो मैं अपनी जान दे दूँगी"। वृन्दावन ऐसा कह कर आनन्द मे विभोर हो उठता। क्योंकि उसके लिये यह गौरवपूर्ण बात थी। पुत्री ने पिता के मानकी रक्षाकी थी न। पर मूर्ख पिता इतनी जल्दी भूल गया कि जिसने उसकी मानकी रक्षा की, उसी का उसने हरएक प्रकार से सत्यानाश कर डाला है। उससे सुख शान्ति सब छीन ली है।

अभय वृन्दावन की ही जाति का एक नवयुवक है। पढ़ा

लिखा—मिष्ठभाषी, मिलनसार और मिहनती है। पिता का देहान्त बचपन में ही हो गया था। पढ़ा लिखा अधिक नहीं था, फिर भी अच्छे लोगों के साथ में रहने से उसका मस्तिष्क काफी परिष्कृत हो गया था। माता ही एकमात्र उसके लिये अवलम्ब थी। थोड़ा बहुत परिश्रम कर वह अपना और माता की उदरपूर्ति के लिये काफी कमा लाता। कारण गाँव के लोग इसकी ओर हठात् आकर्षित होकर उससे थोड़ा बहुत काम लेकर कुछ न कुछ दे देते थे। गाँव में यदि कोई महामारी फैलती है तो इसे कोई घर पर नहीं देखता, सदा एक ड्योढ़ी से दूसरी ड्योढ़ी लाँघा करता है। कहने का तात्पर्य कि परोपकार में भी वह आगे बढ़ा रहता है। बासन्ती के विधवा होने के बाद तो अभय उसपर अधिक ध्यान रखने लगा। किसी बात का उसे दुःख न हो, इसका वह अकथ प्रयत्न करता। और अब बासन्ती के लिये केवल एक ही सहारा और हितैषी था—अभय!

घर के द्वार पर पहुँचकर एक क्षण ठिठका। चित्रा की कलह-मूर्ति फिर सामने आयी। परन्तु सोचा—इस समय तो वह नींद में बुत होगी। सोने में कुम्भकर्ण की नाक काटने का दावा करती है। व्यर्थ डरना है। चुपचाप बासन्ती को मिठाई दे दूँगा—न जानेगी, न लड़ेगी। और फिर इतनी देर गये वह जागती भी होगी, तो भी स्वयं न आकर बासन्ती से ही खोलने को कहेगी। इसी समय शहर के घण्टाघर ने १ बजाया। उसकी विचारधारा रुक गयी। किवाड़ पर जोर की थपकी दी। भीतर से बासन्ती के स्थान पर चित्रा की आवाज सुनाई पड़ी "ठहरो आती हूँ।"

वृन्दावन को जैसे धक्का-सा लगा। परिस्थिति का स्मरण कर रोमाञ्च हो आया। परन्तु किवाड़ खुलने पर सामने बासन्ती को देख उसका जाता हुआ साहस रुक गया। बासन्ती किवाड़ खोल कर जाने लगी कि वृन्दावन ने धीमी आवाज में कहा 'रुक तो बासन्ती जरा'।

बासन्ती पिता के सामने आकर खड़ी हो गयी। उसने सोचा था कि कुछ कड़वी बातें सुनने को मिलेगीं। परन्तु उसके आश्चर्य की सीमा न रही, जब वृन्दावन ने उसके हाथ में मिठाई का दोना पकड़ा कर कहा—'बेटी!, आज एकादशी है न! यह तेरे ही लिये है। जा चुपके से खा लेना। विमाता को खबर न होने देना।"

उसने पिता की ओर कृतज्ञता और विस्मय की आँखों से देखा।

आँखों के कटोरों में अश्रु की बूदें झलक आयां। उनके गिरने के पूर्व ही वह पिता के सामने से चली गयी। वृन्दावन का भी आखिर पिता का हृदय था। पुत्री के आँखों में जो बूदें आ गयी थीं, उनमें क्या २ भाव थे, इसे जानने में उसे अधिक परिश्रम नहीं लगा। उसकी आँखों ने अश्रु की अगणित बूदों से पृथ्वी का सिंचन किया, पर तब, जब वह चली गयी थी। जिसके लिये ये मूल्यवान आँसू गिरे थे, वही न देख सकी। देखने वालों में था वृन्दावन का हृदय और स्वयं वह।

आज चित्रा का सहोदर आया हुआ था। उसका सत्कार बड़े मनोयोग और तैयारी के साथ हो रहा था। इसी समय वृन्दावन पहुँचा था और यही कारण था चित्राके जागते रहने का। मिष्ठान्न लेकर वासन्ती भीतर जाकर आलेमें रख आई और पुनः कार्य में जुट गयी। खिलाने पिलाने से अवकाश मिलने पर जब वह अपनी कोठरी में पहुँची तो थोड़ा विश्राम लेने के अभिप्राय से खाट पर लेट रही। परन्तु अधिक परिश्रम और थकान के आगे वह मिष्ठान्न खाना भूलकर-सो गयी। सबेरे उठी तो पुनः प्रातः-कार्य में लीन हो गयी। अभी चित्रा और उसके भाई सो रहे थे। वह बर्तन मांज, झाड़ू आदि लगा, घड़ा लेकर पानी के लिये नदी की ओर चली। रास्ते में पं० शंकरदत्त का मकान पड़ता था। घर के अन्दर जाकर, उनके भी दो चार जो कुछ जूठे बरतन थे, मांज दिये। पंडित महाशय अभी २ कहीं से

लौटे थे। अकस्मात् बर्त्तनों के रखने की झनकार से उनका ध्यान उस ओर गया। बासन्ती को अपने लिये हमेशा इतना कष्ट उठाते देख उन्होंने कहा—

'बेटी बासन्ती ! तू मानती नहीं। कई बार मना कर चुका कि मैं माज लूँगा, पर तू नहीं मानती।"

गुरुदेव ! मैं इसे अपना काम जानकर करती हूँ—कोई पराया नहीं।" और उसने गाय खोलकर बाहर बांधा। सीधे गंगा के घाट जाकर स्नान किया। घड़ा भरा और घर की ओर लौट पड़ी।

पंडित जी घर के बाहर बरामदे में बैठे बासन्ती के शील-गुण आदि का विवेचन मन ही मन कर रहे थे कि बाहर से बासन्ती को जाते देखा। उन्होंने समझा शायद बासन्ती उनके पास आयेगी। पर उसे बिना अपनी ओर देखे चले जाना देख, उन्होंने पुकारा—बासन्ती। बासन्ती घूम पड़ी। बोली "क्या आज्ञा है। कहिये करके घर जाऊं।"

बासन्ती को 'अपने' कार्य के लिये इतनी तत्परता और संलग्नता देख, उनका हृदय भर आया। वह चाहते थे अभी २ उसके आगे अपना अब तक का संचित वात्सल्य-प्रेम उड़ेल देना, पर हृदय के तरंग को हृदय में ही विलीन करके बोले—"बेटी तेरी सेवा को देखते हुए मेरा उसको उपेक्षा करना क्या

उचित हैं? यह ले। आज एक स्थान से ये केले और बताशे आये हैं। इन्हें लेती जा। जलपान करना।"

"क्षमा कीजियेगा गुरुदेव! परमात्मा ने मुझे इस योग्य नहीं बनाया कि मैं किसी का प्रेमोपहार ग्रहण कर सकूं।" वासन्ती ने हृदय के उठते हुए आवेग को जबरदस्ती दबाते हुए कहा।

पंडित जी को आश्चर्य के साथ २ कौतूहल हुआ। उन्होंने अपने मनःशंका के समाधान के लिये पूछा—"मतलब।"

"मतलब केवल यही है कि मैं बिगड़ी जाऊँगी।"

"कौन माता पिता है जो अपनी संतान को किसी साधु-पुरुष द्वारा दिये गये उपहार के लिए डांटेगा—मारेगा बेटी।"

"पिता का तो उतना डर नहीं, पर मां की आंख बदल जाने पर, भय से बच जाना महा कठिन है पंडित जी।"

"तेरी सगी मां है।"

"नहीं···विमाता ....."

'विमाता' इस शब्द ने पंडितजी को सारी परिस्थिति समझा दी। वासन्ती के भय का कारण और हो ही क्या सकता था? उसके प्रति उनकी ममता और अधिक बढ़ गयी। उन्होंने उसके पीठ पर हाथ फेरते हुए पुनः प्रश्न किया—'क्या तू मेरा काम माता पिता की मर्जी से करती है या अपने मन से।"

"अपने मनसे"

"तो बेटी? बुरा न मानना। कल से मेरा कोई काम न

करना। नहीं तेरी माता को यदि मालूम हो जायगा तो संभव है तेरे साथ २ मुझे भी कटु वचन सुनना पड़े।"

बेचारी बासन्ती को इस मनाही की आज्ञा से हार्दिक कष्ट हुआ। इस कष्ट को वह कैसे पंडितजी के सामने प्रकट करती? क्या यह दिखलाने की वस्तु थी?

५

हार्दिक वेदना को लिये हुए वासन्ती घर पहुँची। कलशी रसोईघर में रखकर कपड़े सुखाने में व्यस्त हो गयी। अकस्मात् उसकी दृष्टि अपने कमरे की ओर गयी। चित्रा को अपनी कोठरी में देख, आनेवाले अनिष्ट का अनुमानकर वह अधीर और चंचल हो उठी। अभी कल का फलाहार उसी प्रकार आले में रखा हुआ था। कहीं उसे विमाता ने देख लिया तो अन्धेर हो जायगा। पिता के सर का बाल नोचने लगेगी। विमाता को इधर उधर की बातों में फँसा रखने के अभिप्राय से वह कोठरी की ओर घूमी ही थी कि चित्रा को दाहिने हाथ में फलाहार की

कटोरी लिये बाहर आते देखा। दोनो की आँखों का सम्मिलन हुआ। एक की आँखों में था क्रोध का दावानल और दूसरी में समर्पण का दयनीय भाव।

चित्रा बासन्ती को देखते ही उबल पड़ी—"कहाँ से आया यह मिठाई का कटोरा! बता किस मनचले ने तुझपर इतनी बड़ी कृपा की? यह सब लुक-छिप का खेल कब से खेलना सीखा! चुड़ैल कहीं की, क्या पिता के मुँह पर कालिख पोतने पर कटिबद्ध हो गयी है! सच सच बता उस कलमुँहे का नाम। मैं उसे और तुझे——"

"बस! बस माँ! अब अधिक नहीं सह सकती। तुम्हारे सब अपमान सह सकूँगी पर चरित्र पर काले छींटे को बरदाश्त नहीं कर सकती। अपने आँख की फूली को अनदेखी कर दूसरे की फूली को देखना बुद्धिमानी नहीं। यदि आगे और कटु-कटाक्ष सुनूँगी तो मैं अपने आप को नहीं रोक सकूँगी। जो होगा—वह भयंकर होगा।"

चित्रा ने एक व्यंग-मिश्रित हास्य किया। बोली-"धमकी से जीतने का अर्थ होता है अपनी कमजोरी। गिरती हुई दिवाल का सहारा लेकर मनुष्य अपने आप को सुरक्षित नहीं रख सकता। तू नहीं बताती तो क्या मैं जानती नहीं। सब जानती हूँ, पर तेरे मुँह से सुनना चाहती थी। सुन! यह मिठाई अभय ने दी है!" तेरी यह काली करतूत कब तक छिपी रहती। तेरे यही

सब पाप उदय होकर, तुझे स्वयं डँस रहे हैं। मां मरी-पति मरा-सारा सुख जैसे पाप की भेंट चढ़ा दिया। मैं जानती थी कि बेटी बताशे खाकर, एक चुल्लू जल पीकर एकादशी का व्रत पूर्ण करती है, परंतु यह सब केवल स्वप्न निकला। धर्म की आड़ में यह भीषण पाप बटोरा जा रहा था। अब मालूम हुआ कि अभय क्यों प्रायः आया जाया करता है?"

वासन्ती जो कभी कड़ी बात बोलना तक नहीं जानती थी, वह क्रोध और विमाता के प्रति घृणा की भावना से छेड़ी हुई सर्पिणी की भांति फुफकार उठी—"माता! मैं तुम्हारे मुंह नहीं लगती थी, इसका तुमने आज अनुचित लाभ उठाकर मुझे सब कुछ कह डाला—जो बाकी था उसकी आज पूर्ति हो गयी। परन्तु अब तुम्हें सचेत किये देती हूँ कि इस घर पर जितना तुम्हारा अधिकार है, उससे कम मेरा नहीं। बड़ों के सम्मान से मेरे मुँह नहीं खुले, पर जब बड़ा अपने पद और अपनी मर्यादा की सीमा को स्वयं बांधे नहीं रह सकता तो छोटा उसे अवश्य लांघने का प्रयत्न करेगा। छोटे पर आधिपत्य के लिये बड़ों को सीमा के बाहर नहीं जाना चाहिये, इसीसे सम्मान स्थिर रहता है। मैं और कुछ करने और कहने के पूर्व तुमसे प्रार्थना करती हूँ कि कठोर न बनो। विधाता से सताई हुई को और सताकर तुम सुख न पा सकोगी। अन्तःकरण की वेदना व्यर्थ नहीं जाती मां"—

बासन्ती के इस मर्मपूर्ण बातों का असर चित्रा पर नहीं के बराबर हुआ—उसने फिर वही प्रश्न दुहराया—"इतनी सफाई और सीख के पहले मैं यह जानना चाहती हूँ कि यह मिठाई कहाँ से आयी। अभय ने नहीं दी तो किसने दिया। साँच को आँच क्या? बता देती तुरंत। मनमें पाप और बाहर से धर्म की आड़, कभी चिरस्थायी रही है? यदि हृदय साफ और स्वच्छ है तो बता, नहीं तो मैंने जो कहा है, वह ठीक ही कहा है।"

'मिठाई कहाँ से आई' विमाता को यह बात जानने की उत्कट इच्छा होना, बासन्ती को उचित मालूम पड़ा। वह पिता का नाम प्रकट कर कलह को वृहद् रूप देना नहीं चाहती थी। चाहती थी, दो चार जली कटी सुनकर बात को बातों में ही दफना देना। पर विमाता की एक ही रट के आगे उसे सिवाय सच्ची बात बता देने के और कोई मार्ग नहीं मिल रहा था। वह भी बहुत कुछ सुन चुकी थी। अब विमाता को अधिक कहने के लिये स्वतंत्र छोड़कर वह अपना सर्वनाश नहीं चाहती थी। उसने कहा—"मिठाई पिता ने दी थी।"

"झूठ बोलती है, तू समझती है पिता हैं, तेरे इस पाप को अपने ऊपर ओढ़ लेंगे। बिस्तर पर पड़े काले धब्बे को सफेद चादर बिछा कर ढँक देंगे। पर चादर उतारते ही काले धब्बे नजर आने लगते हैं, यह छिपने की बात नहीं। असत्य सत्य के आगे नहीं चल सकता।"

"बस ! बस, बहुत हो चुका, अधिक बोलकर अब अपनी प्रतिष्ठा पर स्वयं अपने ही हाथों से धूल न फेंककर पिता जी से जा पूछो।" और एक तीक्ष्ण दृष्टि फेंकती हुई वह साभिमान ऊँची गर्दन कर अपने कोठरी में घुस गयी।

चित्रा को बासन्ती की बातों के अधिक भाग पर अविश्वास और थोड़े भाग पर विश्वास हुआ। उसे वृन्दावन पर अभिमान था। वह जानती थी कि वह मेरे अन्ध-पुजारी हैं—फिर कैसे उसकी चोरी से बासन्ती को मिठाई लाकर दे सकते हैं ? परन्तु बासन्ती की वाणी में जो निर्भयता की झलक और दृढ़ता देखी थी, उसे याद कर वह अपनी पिछली बात पर अधिक देर तक नहीं टिक सकी। पति के इस कपटपूर्ण व्यवहार के विचारमात्र से वह क्रोध में जैसे नीचे से ऊपर तक नहा बैठी। थर थर काँपती और पैरों को जमीन पर पटकती वह बाहरी दालान की ओर घूमी। अभाग्यवश या भाग्यवश पतिदेव आज अभी तक शहर नहीं जा सके थे। दालान में बैठे साले से बातचीत करते हुए अट्टहास कर रहे थे। चित्रा को इस समय यह अट्टहास बहुत बुरा मालूम हुआ। वह थोड़ी देर तक क्रोध को संवरण कर आड़ में खड़ी रही। भाई के जाते ही चित्रा वृन्दावन के सामने जा धमकी।

चित्रा को अभी २ हँसी-मजाक के पीछे आया देख वृन्दावन ने एक फुलझड़ी छोड़ दी। पर इस फुलझड़ी का कोई प्रभाव चित्रा

पर न देख वह शंकित हुआ। उसके मुख पर अभी तक दौड़ती हुई हास्य-रेखा क्षणमात्र में विलीन हो गयी। उसने एक भेदक दृष्टि से पत्नी को देखा और देखा उसकी क्रोधपूर्ण मुद्रा और पल पल पर फूलते और पचकते हुए नासिकारन्ध्रों को।

अपने को संकटापन्न स्थिति में समझना चाहिये, यह विचार कर उसने सदा की भाँति नम्रता का पल्ला पकड़ कर कहा—

"बोलती क्यों नहीं। मेरे मजाक की इतनी उपेक्षा क्यों? और रोज़ तो तुम्हारी हंसी दीवाल गिरा देने की होड़ लेती थी। पर आज इतनी अप्रसन्नता क्यों? क्या अपराध हुआ है मुझसे? बोलो! बोलो क्या प्रायश्चित्त सोच रखा है तुमने।..."

"देखते हो, यह हाथ में क्या है?" खुल पड़ी वह।

हाथ के कटोरे में फलाहार देख उसका माथा ठनका—हृदय विचलित हो उठा—मस्तिष्क जैसे शून्य होता हुआ मालूम पड़ा। क्या उत्तर दे वह चित्रा को। फलाहार तो वही था जो उसने कल बासन्ती को लाकर चुपके से दिया था। बासन्ती ने इसे खाया क्यों नहीं? चित्रा के हाथ यह पड़ा कैसे? बासन्ती ने ही तो चित्रा को नहीं दे दिया? क्षणमात्र में ये विचार उठे और लोप हो गये। बेचारे वृन्दाबन को कुछ उत्तर देते न बना। मौन और गम्भीर बना रहा।

"बोलते क्यों नहीं ? बासन्ती का कहना है कि यह सब तुमने लाकर दिया है।"

"......" वृन्दावन पूर्ववत् मौन बैठा रहा।

अब चित्रा दर्पपूर्ण स्वर में बोली—

"छिपाते क्यों हो ? छिपाने की आवश्यकता ही क्या है ? यदि तुम अपनी लड़की को प्यार करते हो तो मुझे बीच में पड़ने का अधिकार ही क्या है ? संतान को प्यार करना स्वाभाविक और कठोर सत्य है। करना ही चाहिए, पर तुमने मुझसे छिपाकर अच्छा नहीं किया। क्या मैं मिठाई देने में बाधक स्वरूप होती ? यह भावना तुम्हारे दिल में कैसे उत्पन्न हुई ?"

वृन्दावन इन थोड़े ही क्षणों में स्वस्थ होकर मैदान मारने के लिए अपने को तैयार कर चुका था। चित्रा क्रोध की जो धधकती ज्वाला लेकर चली थी, वह भाई के यहाँ उपस्थित होने से बहुत कुछ शान्त हो चुकी थी। उसमें वह तीव्रता नहीं थी जो वृन्दावन को जला सकती। और पूर्ववत् तीव्रता लाने के लिए फूंक की आवश्यकता होती है। फूंकनेवाली बासन्ती वहाँ नहीं थी। चित्रा की अन्तिम बात को ढाल बनाकर उन्होंने कहा—"यह तुमने कैसे निष्कर्ष निकाल लिया कि मैंने तुमसे छिपाकर मिठाई दी। यह तुम्हारा मुझपर कम अन्याय है ? अरे भाई ? मिठाई तो मैं तुम्हें ही देने लाया था, परन्तु

तुम्हें भाई से वार्तालाप करते देख, मैंने वासन्ती को दे दी। उसने उसमें से एक मिठाई भी नहीं ली। क्यों? कह सकती हो? इसलिए कि वह तुम्हारे हाथ से नहीं मिला था। ज्यों का त्यों पड़ा रहना, प्रमाणों का भी प्रमाण है।"

चित्रा बातों में आ गई। वृन्दावन का तीर लक्ष्य पर लगा। वृन्दावन को आसानी से विपत्ति के टलने पर हर्ष हुआ और चित्रा को पति की सत्यता पर विश्वास। पर दोनों का हृदय आन्दोलित हो रहा था। एक के हृदय में पुत्री के लिए दया थी, तो दूसरे के हृदय में इतना होने पर भी तिरस्कार का भाव।

६

पं० शंकरदत्त इस गाँव के जन्मजात निवासी नहीं। उनको इस गाँव में आये प्रायः ६ साल हुए हैं। अवस्था चालीस होते हुए भी मुखाकृति पर तेज और शरीर नवयुवकों-सा गठा हुआ है। अपनी गम्भीरता और साधु स्वभाव के कारण वे सभी के प्रियपात्र बन गये हैं।

गाँव से शहर दूर होने के कारण ग्रामीण बालकों के पठन-पाठन में बड़ी कठिनाई थी। गाँव के गोपीनाथ घोष के दो लड़के केवल शहर में पढ़ते हैं। उनकी स्थिति और लोगों से अच्छी होने के कारण लड़कों के लिए दो साइकिलों को

व्यवस्था कर दी थी। पर अन्य गरीब ग्रामीणों के लिए साइकल का प्रश्न सुलझनेवाला नहीं था। पढ़ाने की लालसा होते हुए भी आर्थिक परिस्थिति उन्हें मजबूर किये हुए थी।

चार पांच वर्ष पूर्व यहां एक पाठशाला थी, जिसका संचालन एक अज्ञात शक्ति द्वारा होता रहा, पर वह अकेला व्यक्ति कबतक बोझ सम्हाल सकता था। द्रव्याभाव के कारण अन्त में बन्द हो गया। इस स्कूल में पढ़े हुए कुछ व्यक्ति शहर से पढ़ कर अच्छी योग्यता प्राप्त कर चुके थे। उनमें यह भावना निरन्तर उठकर उन्हें मथित कर रही थी कि कैसे अपने गाँव में पुनः स्कूल चलने लगे। इसके लिए उन्होंने गाँव के जमींदार के पास एक डेपुटेशन लेकर जाने का निश्चय किया। निदान दो चार प्रतिष्ठा-लब्ध व्यक्तियों के साथ वे उनके पास पहुँचे। जमींदार के सामने स्कूल की महत्ता और उसकी आवश्यकता दिखलाई। जमींदार महाशय पहले कई बार लोगों को निराश कर चुके थे। आज भी उन्हें आशा कम और निराशा अधिक थी। पर उनके सामने यह प्रस्ताव रखते ही, जब उन्होंने स्वीकार कर लिया तो उनको हर्ष के साथ २ महान् आश्चर्य हुआ। डेपुटेशन मन में ऊँचे २ महल बनाता हुआ गाँव लौटा। जमान आदि ठीक की जाने लगी, पर इसी बीच, उन्हें यह दुखद समाचार मिला कि जमींदार साहब की आकस्मात् मृत्यु हो गयी। बेचारों की आशा पर पानी फिर

गया। पर उन्होंने उनके उत्तराधिकारी से मिलने का निश्चय किया। मिले भी, पर सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिला। कारण उन लोगों ने उनके लड़के रणजीत सिंह को एकदम बिलायती रंग में रंगा हुआ—कुछ उछृङ्खल—कुछ आचरणहीन देखा। उससे सहायता पाने की आशा उन्होंने छोड़ दी।

अकस्मात् यही पंडित शंकरदत्त इस गांव में आ पहुँचे। इनके सरल स्वभाव और परोपकारी जीवन ने सबको शीघ्र ही अपनी ओर खींच लिया। इन्हीं के उद्योग से चन्दे पर पुनः उस स्कूल का उद्‌घाटन हुआ। प्रश्न उपस्थित हुआ योग्य मास्टर कहां से लाया जावे। बाहर से कोई भी २५—३०) से कम पर आने को तैयार न होगा। पर इस प्रश्न को भी पंडित जी ने अपने ऊपर लेकर हल कर दिया। केवल १०) मासिक पर वे पढ़ाने के लिए तैयार हो गये।

पाठशाला चलने लगी। गांव के सैकड़ों बालक मनोयोग से पढ़ने लगे। स्कूल की उन्नति में पंडित जीने सतत प्रयत्न किया। अब फीस आदि से भी काफी रुपये आने लगे। अतः दो मास्टर और रखे गये। एक की २५) और दूसरे की २०) पर नियुक्ति हुई। इस तरह पंडित जी को इससे अधिक चाहिए था परन्तु उन्होंने अधिक लेने से इनकार किया।

धीरे २ पंडित जी की ख्याति आस-पास के गांवों तक फैल गयी। लोग श्रद्धाभक्ति से प्रेरित हो उनके पास आते—

उपदेश सुनते और कुछ न कुछ भेंट देकर ही जाते। पंडित जी मना करते ही रह जाते। पर देने वालों ने क्या कभी सुना है? एक दिन गांव के गोबर्धन राय ने पंडित जी से कहा—
"पंडित जी! आप अकेले हैं। पढ़ाने के बाद विश्राम की आवश्यकता होती है। परन्तु पढ़ा से अवकाश मिलते ही आप रसोई में पिल पड़ते हैं। यह कष्ट मुझसे नहीं देखा जाता। इस गांव में कई ब्राह्मण हैं जो आपकी शाखा के हैं। मैं उनके यहां आप के भोजन का प्रबन्ध ठीक कराये देता हूँ। उन्होंने स्वीकार भी कर लिया है।"

"आपकी इस सहृदयता और कृपा के लिए मैं आपका आभारी रहूँगा—धन्यवाद! पर राय महाशय! मैं तो ब्राह्मण ही क्यों? किसी जाति के हाथ का भोजन, यदि वह हिन्दू है, और हिन्दू नियमों का पालन करता है, खाने को तैयार हूँ...। पर कष्ट-सहन की शक्ति रहते हुए, दूसरे को कष्ट देना मैं मनुष्य-शक्ति को ह्रास करना समझता हूँ।"

"फिर क्या आपको जाति-च्युत हो जाने का भय नहीं?" आश्चर्य-मिश्रित मुद्रा से राय महोदय ने प्रश्न किया।

"जाति को समूह देनेवाले हमी लोग हैं और फिर उसीसे अकारथ डरें तो हमारा घोर पतन समझना चाहिये। मनुष्य को डरना चाहिए अशुभ कर्मों से—जाति से डरकर अच्छे कार्य से पीछे हटना महान् कायरता का द्योतक है। हम जाति

की परवाह करते हैं, इसलिए जाति अपनी अधिकार-रक्षा के लिए हमपर अत्याचार करती है। पर जब हम उसकी उपेक्षा कर आगे कदम रखेंगे, तो जाति की कोई हस्ती नहीं कि वह हमें रोक सके—हमारे कार्य में अड़ङ्गा डाल सके। मनुष्य को अपना क्षेत्र संकुचित करने के स्थान पर सदा विस्तृत बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। संकुचित स्थानवाला घुटता है और विस्तृत स्थान मनुष्य में नवीन स्फुरण-शक्ति प्रदान करता है। जो जाति के संकुचित सीमा में हैं, वे क्या कभी उन्नति का मार्ग पकड़ सकते हैं? कभी नहीं? वे तो उसी में जन्मपर्यन्त घुटते २ जीवन खो बैठते हैं और संसार से अनभिज्ञ और आगे की दौड़ में बहुत पीछे रह जाते हैं। विस्तृत क्षेत्र में कुलाचें मारनेवाला ही जीवन पाता है और संकुचित वालों के लिए क्षेत्र बनाता है।"

"पर अकेला चना कहीं भाड़ फोड़ता है?"

"ठीक कहते हैं राय महोदय! पर यही आप जैसा विचार सभी तो प्रकट करते हैं। आगे बढ़नेवाला मार्ग में आनेवाले सभी कंटकों को हटाता हुआ बढ़ता ही जाता है—वह पीछे मुड़कर सहायता पानेवाले की राह नहीं देखता। रास्ता जब साफ और स्वच्छ हो जाता है तो लोग उसकी उपयोगिता को समझकर उसपर चलने लगते हैं। पर नया रास्ता होने के कारण आगे-पीछे—अगल बगल देखते जरूर हैं? पर धीरे २

वह अगल बगल झांकने का डर जाता रहता है, और उस आगे बढ़नेवाले के अनुयायी हो जाते हैं। जाति के डर से आत्मा का हनन करना पाप है। परमात्मा से डरो—उसका सहारा लेकर अच्छे कामों में जुट जाओ—घोर आपत्ति आने पर भी जो अटल रहता है वही विजयी होता है।"

राय महोदय को वास्तव में यह जांत-पांत वाला पचड़ा निम्नतम मालूम पड़ा। पंडित जी के कथन में यद्यपि उन्हें सत्य ही सत्य दृष्टिगोचर हुआ, परन्तु आत्मा इतने दिनों तक कुचलती हुई रहने के कारण, साहस नहीं हो रहा था कि वह भी आज ही से यह जात पांत का झगड़ा समाप्त कर दें। फिर भी हृदय ने इसे स्वीकार कर लिया और आगे बढ़ने के विचार से प्रेरित होकर उन्होंने कहा—"रोज नहीं तो आज मेरे यहां भोजन करने का कष्ट अवश्य करें।

पंडितजी ने 'हूँ' कहकर निमंत्रण स्वीकार कर लिया।

संध्या समय राय साहब के घर पहुँचने पर पंडित जी ने दो चार व्यक्तियों को उनकी सेवा में तत्पर देखा। उन्हें राय महोदय के सेवाभाव को देखकर आत्म-तुष्टि हुई। भोजन के समय दो चार गांव के और पढ़े लिखे व्यक्तियों को अपनी पंक्ति में बैठा देख उनके आश्चर्य की सीमा न रही। उन्हें इस बात का सन्तोष हुआ कि राय महोदय ने आगे कदम बढ़ाया

है और सफलता भी प्राप्त की है। इन साथ देनेवाले व्यक्तियों में १७ वर्षीय अभय भी सम्मिलित था।

यह जाति वाले झगड़े ने यद्यपि एक बार बृहद् तूल पकड़ा, पर पंडित जी के सतत प्रयत्न और उपदेश के आगे किसी को अधिक बोलने का साहस नहीं हुआ। धीरे २ वातावरण अनुकूल हो गया।

बासन्ती पर इन पंडित जी का विशेष प्रभाव पड़ा, वह उनके काम कर देने में जो सुख और आनन्द का अनुभव करती थी वह उसके लिये देवपूजा से भी बढ़कर था। वह उनके दर्शन मात्र से धन्य धन्य हो जाती। उनका काम कर लेने पर तो उसे ऐसा मालूम पड़ता जैसे उसने एक महान् धार्मिक विजय पाई है और उसे स्वर्ग ही प्राप्त होगा। जब कभी घर के कलह और विमाता के वाग्बाणों से वह विद्ध होती तो वह सीधे पंडितजी के शरण में पहुँच जाती। उनकी मीठी ज्ञानयुक्त बातें सुनकर वह सब कुछ भूल जाती। वहां से लौटती अपने में नवीन परिवर्तन-और आत्म-सन्तोष का भाव लिए हुए। पंडितजी उसे सदा सदुपदेशों द्वारा सन्मार्ग पर चलने का परामर्श देते रहते। यही कारण था कि बासन्ती अब एकदम निर्भय और धर्मधुरन्धर हो गई थी।

कहने का तात्पर्य यह कि पंडित जी के पदार्पण ने गांव की काया पलट दी।

७

असाढ़ का महीना और प्रातःकाल का समय था। रात को पर्याप्त पानी बरस चुका था। छोटे बड़े पेड़ों पर धूल की राशि जो उन्हें मलीन किये हुए थी, पानी ने धो धाकर उज्वल बना दिया था। उदय होते हुए भुवनभास्कर की रक्तिम आभा ने उन वृ ों की डालों और पत्तों पर बिखर कर, एक अनुपम सुहावना दृश्य उपस्थित कर दिया था। आकाश पर यत्रतत्र बादलों के टुकड़े दौड़ लगाते हुए भुवन भास्कर की इस आभा को तेजहीन करने का व्यर्थ प्रयास कर रहे थे।

पं० शंकरदत्त जी ने गंगा में स्नान किया। महिम्न स्तोत्र

का आद्यान्त पाठ समाप्त कर घर की ओर चले। आज का प्रभात पंडित जी को गत प्रभातों से अत्यन्त चित्ताकर्षक और आल्हादमय मालूम पड़ रहा था। मार्ग के दोनों ओर लगे हुए विविध वृक्षों की पंक्तावलियां आज उन्हें कुछ नवीनता लिए हुए जान पड़ीं। वृक्षों के छिद्रों में से छन छनकर आती हुई भास्कर की प्रातःकालीन रश्मियां उनके हृदय प्रदेश में जैसे स्फूर्ति और आनन्द का प्रसार कर रही थीं। वे आनन्दमग्न झूमते हुए चले जा रहे थे कि अकस्मात् उनकी दृष्टि पड़ोसी गांव के जमींदार महेन्द्र सरकार पर पड़ी जो इन्हीं की ओर चले आ रहे थे। समीप आने पर जमींदार साहब ने भूमिष्ठ हो उन्हें प्रणाम किया। पंडित जी ने आशीर्वाद देते हुए पूछा—

"आज सवेरे २ इधर कैसे निकल आये। घर में सब कुशल मंगल तो है न ?"

'आपकी दया से, कुशल ही कुशल है। कल सत्यनारायण की कथा मेरे यहां होने जा रही है। समाप्ति पर कुछ ब्राह्मणों को भोजन कराने का विचार है।"

"पर उन गरीबों के लिए क्या आपके यहां कोई गुंजायश है, जिनको दोनों वक्त भर पेट भोजन भी नहीं मिलता ? परोपकार है भूखों को खिलाने में, भर पेट वालों को नहीं। दान देना तभी सार्थक है जब दान लेने वाला खाली हाथ हो, जिसका हाथ खाली नहीं, उसे देने में तो वह रखने के

लिये जगह ढूंढेगा। उचित उपयोग करना भूलकर अनुचित उपयोग करेगा। मैं तो तुम्हारा निमंत्रण तभी स्वीकार करूंगा, जब कुछ गरीब भी तुम्हारे इस भोज में सम्मिलित हों।"

"पर माता की इस योजना में मेरा हस्तक्षेप क्या उचित है पंडित जी? आप तो जानते ही हैं कि मैं आधुनिक युग का हूं। मुझे तो इस कपोलकल्पित कथाओं में ही श्रद्धा नहीं। पर मां के आगे झुक जाता हूं।"

"झुकना ही चाहिए। माता की सेवा और आज्ञा पालनही श्रेष्ठ पुण्य है। माता से कृतघ्न होकर जीनेवाले को मैं मरा हुआ समझता हूं। जाओ! माता के कथनानुसार निमंत्रण बांट आओ।"

"आप तो जरूर आइयेगा न?"

"अवकाश मिलने पर अवश्य आऊँगा।"

"नहीं गुरुदेव! यह नहीं हो सकेगा, आपको आना ही होगा। माता को अभी बहुत उपदेश की आवश्यकता है। क्या उन्हें वंचित रखियेगा, इस दुहरे लाभ से? ऐसा अवसर हमेशा थोड़े ही आता है। वचन दीजिये, तभी जाऊंगा।"

"अच्छा भाई आऊंगा। बस! अब तो प्रसन्न हो।"

जमींदार साहब ने झुककर अभिवादन किया और पधारने की पुनः याद दिलाते हुए ब्राह्मण-पाड़ा की ओर घूम पड़े और पंडित जी घर की ओर।

द्वार पर पहुँचते ही सर्वप्रथम जिनपर उनकी दृष्टि पड़ी, वह बासन्ती थी। बासन्ती के उतरे हुए चेहरे और रुदन-मुद्रा को देखकर, उनके हृदय को एक ठेस लगी। दुख पहुँचाने वाले अपराधी, स्वयंको उन्होंने मन ही मन धिक्कारा। यदि इसे अपने कार्य से वंचित न करता तो यह दुःखित होती ही क्यों? बासन्ती की विमाता के कटुवचनों से बचने के लिये ही तो मैंने उसे रोका था। पर मुझे उससे डरने की आवश्यकता? मेरा वह क्या बिगाड़ लेगी। दो चार कटुवचनों से मेरा क्या पतन हो जाता? परन्तु, यदि वह इसी एक कारण से दुःखित होती तो मुखाकृति पर इतनी तीव्र वेदना के लक्षण न होते। अवश्य उसे और भी आन्तरिक क्लेश है।

अपनी इस शंका की निवृत्ति के लिये उन्होंने बासन्ती की ठोढ़ी ऊपर उठायी और प्रेमपूर्ण स्वर में बोले—'बेटी! क्या मेरे ही व्यवहार से तुम्हें दुःखित होना पड़ा है या और भी कोई कारण है? पिता को सन्तान की चिन्ता असहनीय होती है—मुझे तुमपर पुत्रीवत् स्नेह है, इसीलिये पूछ रहा हूँ। क्या सच २ बतायेगी?"

"जिनके आश्रय में आकर सुख-शान्ति का अनुभव करूं, जिसके वात्सल्य का अमृत-रस पीकर, सब कुछ छिन जाने पर भी जी रही हूँ, उससे छिपाकर क्या पुण्यार्जन कर सकूंगी? गुरुदेव! मैंने आप ही से ज्ञान पाया है और आप ही पर

उसका उपयोग कर रही हूँ; क्षमा कीजियेगा। मैं आपसे पूछना चाहती हूँ कि जिस असहाय व्यक्ति का मार्ग अवरुद्ध हो—जिसके मार्ग में कांटे ही कांटे बिछे हों—जिसके जीवन का सुहाग लुट गया हो—जिसके मानापमान का कोई ख्याल रखने वाला न हो—जो सदा विपत्ति को आंचल में बांधे फिरती हो और जिसकी सुविधायें एक एक कर छिनती चली जा रही हों, क्या वह जीना पसन्द करेगी? बताइए गुरुदेव! जल्दी बताइये?"

✓ "दुनिया एक घूमता हुआ चक्र है बेटा!! सुख दुख की प्रतिक्रिया जीवन में सर्वदा होती रहती है। कोई कहे कि मैं जीवन भर सुखी रहूँगा, यह मिथ्या अभिमान है। सुख दुःख तो एक दूसरे की छाया के सहयोग से चलते हैं। छाया का दीर्घ और लघु होना चक्र पर निर्भर है। दुःख का सुख के साथ सम्मिश्रण न रहे तो लोग परमात्मा तक को भूल बैठें। दुःख में ही तो परमात्मा को लोग स्मरण करते हैं। जो परमात्मा का ध्यान हर हालत में करता है, उसे सुख दुख समान मालूम पड़ेंगे। उसे विश्वास रहता है कि सुख किया है तो थोड़ा दुःख भी सही। दुःख से घबड़ा कर अपने को खो बैठना महान् अपराध है। धैर्य रख बेटा! विपत्तियों को भोगते हुए संसार-सागर को पार करने वाला ही अमरता की ओर बढ़ता है। तेरा सब कुछ लुट गया—छिन गया, यह सब तेरे इस जन्म का नहीं, उस जन्म

का भोग था। जीवन में भलाई का हाथ पकड़े चली चल। भगवान भला ही करेगा।......"

"पर गुरुदेव मैं औरत हूँ। औरत शरीर और मन से कमजोर होती है। उसका घोर शत्रु सौन्दर्य उसे और भी कमजोर और कायर बना देता है। सच्चरित्र औरत सब कुछ सहन कर सकती है, पर अपनी आन पर आक्रमण नहीं सह सकती। कमज़ोर है, इसलिए उसके सामने मृत्यु के अतिरिक्त और क्या सहारा ही रह जाता है।"

पंडितजी ताड़ गये कि अवश्य कोई न कोई नवीन घटना घटित हुई है। उन्होंने पूछा—"क्या बात है बेटी? साफ-साफ बता।"

"मेरी विमाता का एक भाई मोतीलाल है। वह हर सप्ताह यहां पहुँचा करता है। उसके इस बार २ के आने में पाप छिपा हुआ है। दो तीन दिन रहता है, पर उसकी आंखें मेरे इर्द गिर्द ही नाचा करती हैं। छाया की तरह मेरे आगे पीछे लगा रहता है। अश्लील शब्दों के प्रयोग करने में भी नहीं हिचकता।..."

"तो अपनी विमाता से क्यों नहीं कहा?" बीच ही से बात रोककर पंडितजी ने शीघ्रता से पूछा।"

"कहा था—वे मौन रहीं। उसका मन और स्वतन्त्र हो गया। वह मुझपर कल रात्रिमें बलप्रयोग करने पर कटिबद्ध हो गया। मैं

घबड़ा उठी। आगे अन्धकार नाचता दीख पड़ा। मैं चीख उठी। इतने में झट विमाता वहाँ आ पहुँची। मोतीलाल तुरंत कह बैठा—बासंती मुझे अपशब्द कह रही थी—मैंने डांटा तो वह चीख पड़ी। क्या यह अच्छे लक्षण हैं। मैं भला मामा होकर इसके साथ दुर्व्यवहार करूँगा? मैं तो सिर्फ हाल-चाल पूछने आया था। आते ही वह मुझपर बरस पड़ी। विमाता सब कुछ जानती थी। उनसे भाई के प्रति आरोप कब सहा जाता। आग बबूला हो उठीं और पास पड़ी हुई लकड़ी से मारती हुई, मुझे धक्का देकर घर से बाहर ढकेल दिया। मैं शेष रात्रि तक द्वार पर पड़ी अपने भाग्य पर आँसू बहाती रही। मेरे दो ही हितैषी हैं। आप और दूसरा अभय! अभय को युवा समझ, लोग विविध कलुषित कल्पना कर बैठते, इसलिये प्रभात होनेपर सीधे आप के यहाँ चली आयी हूँ।"

"तेरे पिता क्या घर पर नहीं थे?"

"वे शहर से दो रोज हुए नहीं लौटे हैं। कार्याधिक्य के कारण वे कभी दो २ चार २ रोज तक नहीं आते।"

"कोई भय नहीं। जबतक तेरे पिता न लौटें, तू इसे अपना ही घर समझ। पर एक बात तो बता बेटी।"

"पूछिये बताऊँगी।"

"तेरे पिता का व्यवहार तेरे प्रति कैसा है?"

"थोड़े दिनों से अच्छा रहने लगा है।"

"तो ठीक है। आने पर मैं सारी परिस्थिति समझा कर उनसे कहूँगा कि वे तेरी माता पर नियंत्रण रखें।"

और पंडित जी रसोई में जुट गये। भोजन तैयार हो जाने पर पंडित जी ने बासन्ती को बड़े प्रेम से खिलाया। बासन्ती आज उनके हाथ की रसोई खाकर मन से तृप्त हुई। उसे माता के मरने के बाद से आज प्रथम बार वात्सल्य का अनुभव हुआ।

भोजन समाप्त कर पंडितजी अभी बरामदे में बैठे ही थे कि वृन्दावन आ पहुँचा। उन्होंने उठकर उसका स्वागत किया। पास पड़े हुए आसन पर बैठने का संकेत कर पंडितजी ने सारी बातें वृन्दावन के सामने रखते हुए कहा—"वृन्दावन! बेटी की ओर से इस प्रकार उदासीन रहना, तुम्हारे लिये शोभा की बात नहीं। सन्तान का अनादर परमात्मा के अनादर के समान है। बान्सती की माँ को इतनी स्वतंत्रता देकर तुमने अपना मार्ग स्वयं कंटकाकीर्ण बना लिया है। यदि अपनी पत्नी की उछृंखलता को तुम बदल नहीं सके तो वह अपने साथ * तुम्हें भी ले डूबेगी। इतनी सुशील कन्या का तुम्हारे घर जन्म लेना तुम्हारे लिये सौभाग्य की बात है। उस सौभाग्य को उपेक्षित कर तुम सुखी नहीं रह सकोगे। समय रहते चेत जाना ही बुद्धिमानी है।"

वृन्दावन की आँखों से टपटप आँसू गिर रहे थे। वह नहीं

रो रहा था, उसकी आत्मा रो रही थी। उसने कहा—"पंडित जी! मैंने दूसरा विवाह कर जो सुख की कल्पना की थी वह कोरी कल्पना ही रह गयी। अपनी इस भूल पर पश्चात्ताप की जिस अग्नि में जल रहा हूँ, उसे मेरे अतिरिक्त कौन जान सकेगा? उसके आगे न मालूम कौन अज्ञात शक्ति मुझे मौन हो जाने को बाध्य कर देती है, पर अब मुझे कठोर होना ही पड़ेगा। आप की आज्ञा शिरोधार्य है। आज्ञा का पालन कर सकूं और सफल हो सकूं, इसके लिए मुझे आशीर्वाद दीजिये।"

पंडितजी ने वृन्दावन के माथे पर हाथ सहलाते हुए बासन्ती को पुकारा। बासन्ती चौका-बर्तन कर रही थी। बसी सने हाथ से वह बाहर दौड़ आई। पिता को देख वह ठिठक गई। थोड़ा डर लगा। पर पंडित जी ने गम्भीर स्वर में कहा—"बेटी! जा हाथ धो आ। तेरे पिता तुझे लेने आये हैं। डरने की कोई बात नहीं। मैंने सब कुछ समझा दिया है।"

वृन्दाबन ने पुत्री की ओर दया की दृष्टि से देखा। प्रेमपूर्ण स्वर में बोला—"बेटी! चल घर चल। मैं आज ही मोतीलाल को निकाल बाहर करूंगा।"

पिता पुत्री ने पंडित जी के पैर छुये और घर लौट पड़े। अभी वृन्दाबन ने ड्योढ़ी पर पैर रखा ही था कि चित्रा गरजती हुई सामने आ खड़ी हुई। बोली "बाप रे बाप! यह देखो,

इनके लक्षण ! हाथ पैर जोड़कर लौटा लाये। इसीसे तो इसका मस्तिष्क सातवें आसमान पर चढ़ा रहता है। बोलो तो काटने को दौड़ती है। मुझे ऐसी कुलक्षणी बेटी होती तो पैदा होते ही गला घोंट देती। देखो न ! कैसी अकड़ कर खड़ी है। न लज्जा, न शरम, जैसे सबको घोलकर पी गई है।" एक ही सांस में वह इतना कह गई।

वृन्दावन ने कोई उत्तर नहीं दिया। हाथ से चित्रा को अलग हटा कर भीतर चला गया। बासन्ती अपने प्रकोष्ठ में गई और वृन्दाबन तमाखू चढ़ाकर पीने लगा।

रात को वृन्दाबन चित्रा से जब एकान्त में मिला तो बोला—"मोतीलाल को आये कई रोज हो गये। व्यर्थ इधर उधर मारा फिरता है—लोग कानाफूसी करते हैं। घर क्यों नहीं जाता ?"

"कानाफूसी करने वालों की जबान अपनी है। मैं उनकी कोई परवाह नहीं करती। यदि मेरा भाई उनकी आंखों में खटकता है तो वे अपने घर बने रहें। दूसरे के छिद्र से उन्हें क्या लगाव ? फिर उसके घर पर ही कौन-सा काम का पहाड़ है जो उसके बिना नहीं होगा। जैसे वहां घूमता है, वैसे यहां घूमता है, तो इसमें हानि ही क्या है ?"

"अपनों की बुराई अपनी आंखों नहीं दीखती, यह मैं जानता हूं, तुम्हारी दृष्टि में भाई का पद ऊंचा है, पर दूसरों की

दृष्टि में नहीं। ताड़ी-शराब पीकर गांव की छोकरियों से छेड़-खानी करना भले आदमियों का काम नहीं। एक न एक दिन हमारी नाक पर आ बनेगी। तुम घर में रहती हो—बाहरी बातें तुम तक नहीं पहुँचतीं। मैं तो शिकायतें सुनते २ ऊब गया हूँ। कई रोज से तुमसे कहने के लिए अवकाश ढूंढ़ रहा था। आज अवसर मिलने पर कह रहा हूँ, उसे घर भेज दो।"

"पर किसने क्या शिकायत की है? जरा मैं भी तो सुनूँ"

"अभी २ कल की बात है, मुहल्ले के रामरतन साहु की बहू को इसने पनघट पर अश्लील शब्द कहे थे। साहू जी क्रोधावेश में क्या क्या कर न गुजरते, यदि मैंने उन्हें ऊंची-नीची समझा कर शान्त न किया होता।"

"बात बना रहे हो तुम। मेरा भाई इतना आगे बढ़ नहीं सकता। इतना उछृङ्खल नहीं है वह। जरूर बासन्ती ने तुमसे आग लगाई होगी और तुम उसे तिल से पहाड़ का रूप दे रहे हो।" जरा उत्तेजित स्वर में चित्रा ने कहा।

"पर बासन्ती ने नहीं कहा है, यह तुम्हें कैसे विश्वास दिलाऊं? याद रखो भाई का दोष बासन्ती के माथे मढ़ना मैं सहन नहीं कर सकता। तुम्हारी जबान बहुत लम्बी हो गई है। यदि समेटोगी नहीं तो अनिष्ट दूर नहीं।"

"हूँ। मैं दूसरी हूँ न? इसलिए तुम सीधे रास्ते न जाकर टेढ़े रास्ते से निकल कर अपनी धाक जमाना चाहते हो। पर

मैं भी आपको साफ २ बता देना चाहती हूँ कि अपने भाई का अपमान मैं भी न सहन कर सकूंगी।"

"देखता हूँ तुम कैसे लोहा लेती हो, जब सारा का सारा गाँव एक होकर तुम्हारा उन्मूलन करने पर तत्पर होगा।"

"क्या कह रहे हो तुम!"

"ठीक कह रहा हूँ। तुम्हारे भाई की काली करतूतें गाँव के जमींदार के कानों तक पहुँचाई गयी हैं। क्या तुम समझती हो कि गाँव के सारे लोगों की वे उपेक्षा करेंगें? नहीं। कड़ी कार्यवाही करेंगें वे। तब देखूँगा तुम्हारा साहस और अभिमान।"

क्षणमात्र में चित्रा का अभिमान और साहस जैसे एक हलके आघात से छिन्नभिन्न हो गया। वह नम्र होकर बोली—"तुम्हारी तो जमींदार साहब तक पहुँच है। तुम विरोध करोगे तो वे तुम्हारी उपेक्षा कर सकेंगें?"

"क्यों नहीं? गाँव के सैकड़ों व्यक्तियों के आगे, असत्य की नींव पर खड़ी की गई एक की बात कभी टिकी है कि टिक सकेगी। १०० के आगे १ का कोई मूल्य नहीं।"

"फिर जैसा कहो करूँ।"

"मोतीलाल को घर जाने के लिये कह दो। सारा विवाद समाप्त हो जाय।"

"पर मैं अपने मुँह से जाने को कैसे कहूँ। तुम ही कह दो।"

अच्छा कहकर वृन्दावन बैठक में पहुँचे। मोतीलाल अभी ताड़ीखाने से लौटकर खाट पर लेटा था। आँखें लाल हो रहीं थी मानो नशा आधिपत्य जमाता चला आ रहा है। मुँह से बदबू उनतक पहुँच रही थी। वृन्दावन को देखकर वह अन-जान बनने का व्यर्थ प्रयास करने लगा, परन्तु उन्होंने उसे उठाते हुए ज़रा कड़े स्वर में कहा—"मोतीलाल! तुम्हारा यह आवारों ऐसा घूमना—ताड़ी शराब पीकर इधर उधर ऊधम मचाना मुझे पसन्द नहीं। अच्छा होता कि कल ही अपने घर चले जाओ। ऐसा न हो कि सम्बन्ध को भूलकर मुझे कोई अन्य उपाय से काम लेना पड़े।"

इतना कहकर वे भीतर चले गये।

मोतीलाल मुँह बाये उधर देखता ही रह गया।

८

बासन्ती के गाँव के जमींदार हमारे पूर्व परिचित बाबू किशोर सिंह थे। वे अपने जीवन के उदय और मध्यान्ह में रियाया को सताने और उनसे मनमाना वसूल करने में जरा भी नहीं हिचके थे। अपने विलासी जीवन के वृहत्तर व्यय की पूर्ति के लिये जमींदार जुल्म किया ही करते हैं। हमारे किशोर सिंह फिर कब अपवाद रह सकते थे। पसीना और खून एक करनेवाले इन गरीबों की कमाई से इन्होंने कलकत्ते में बड़ी २ कोठियाँ बनवाकर खूब गुलछर्रे उड़ाये। रुपयों को रुपया नहीं समझा। मनुष्य धन के उन्माद में यह कभी नहीं सोचता कि

बुरे का परिणाम अच्छा नहीं होता। एकाएक उनमें जमीन आसमान का परिवर्तन देख, उनकी रियाया आश्चर्य चकित हो गई। कोई भी नहीं जान पाया कि इस परिवर्तन के पीछे क्या रहस्य निहित है। जानें भी कैसे? भाई तक ही जो सीमित रहा। सुरेन्द्रसिंह ने उनकी पाप-कथा को अपने में ही दफना दिया था।

किशोरसिंह ने अपने जीवन के सूर्यास्त में जो काम किया वह सराहनीय ही नहीं, वरन नाम की प्रशस्ति में बहुत सहायक हुआ। उन्होंने गाँव की सीमा पर एक पक्का बड़ा-सा तालाब बन-वाकर गाँववालों के पानी के कष्ट की समस्या का हल कर दिया था। गाँव के मध्य में एक दर्शनीय मंदिर बनवाकर उसके व्यय के लिये ५० बीघा जमीन लिख दी। एक सुपात्र ब्राह्मण को उसका संरक्षक नियुक्त कर, जमीन जायदाद उसी के आधीन कर दी गयी। कुछ लोगों ने शिक्षा की कमी की पूर्ति के लिये उनका ध्यान आकर्षित किया। इसके लिये भी वह तैयार हो गये और कुछ लोगों की समिति बनाकर यह कार्य उन्हें सौंप दिया गया। बहुत कुछ कार्य हो भी गया था, परन्तु अकस्मात् उनकी मृत्यु हो गयी और यह शुभ कार्य उनके हाथों नहीं हो सका।

किशोर बाबू के गत हुए आज ५ वर्ष हो गये थे, पर गाँव वालों को उनके सुपुत्र रणजीतसिंह के दर्शन नहीं हुए थे। कल

रणजीत बाबू गाँव में आने वाले हैं। यह समाचार विद्युत् की भाँति चारों ओर फैल गया। पंडित शंकरदत्तजी के यहां एक विशाल समूह बैठा इसी विषय पर विचार-विनिमय कर रहा है। बीच बीच में तमाखू भरा चिलम इधर से उधर चक्कर लगा रहा है।

रणजीतसिंह के बारे में लोगों में तरह २ की भावनायें थीं। उनके आने की सूचना से किसी में भी उत्साह या प्रसन्नता न थी। उनमें से एक ने कहा—

"जमींदार बाबू तो फैशन में गौरांग महाप्रभुओं के भी गुरु हैं गुरु।"

"अरे भाई! फैशन ने तो भारत को ऐसा लपेट लिया है कि लोग उसी में उलझे रहते हैं। उन्हें यह सोचने और समझने का अवसर ही कहाँ मिलता है कि अपनी गिरती अवस्था और पराधीनता को देख सकें। पश्चिमी सभ्यता के अनुयायी बनकर हमारे नवयुवक और नवयुवतियाँ पतन की ओर बढ़ती चली जा रही हैं। मालूम नहीं इनके यह दूषित विचार कब परिष्कृत होंगे। फैशनके आगे इन्हें देशी चीज हेय मालूम देती हैं। चमकीली और भड़कीली वस्तुओं ने इनकी आँखों पर अंधकार का गहरा आवरण डाल रखा है। देशी वस्त्र और देशी चीजें उपयोग कर वह दूसरों की नजरों में खूबसूरत कैसे जचेंगे—बड़प्पन की रक्षा कैसे कर सकेंगे? वे यह नहीं

सोचते कि स्वतंत्र देशों की दृष्टि में उनका कोई मूल्य—कोई अस्तित्व नहीं। उनकी दृष्टि में वे दूसरों के टुकड़ों पर जीने-वाले—पराये आसरे पर अपने को बनाये रखने वाले पङ्गु हैं। भगवान न जाने कब हम भारतीयों की आँखों पर से यह नाशकारी आवरण हटायेगा?" पंडितजीके इस अन्तिम वाक्य के साथ साथ हृदय की वेदना 'आह' के रूप में निकल पड़ी।

"फैशन के अतिरिक्त उनमें और भी दुर्गुण हैं जो उपेक्षणीय नहीं। क्रोध तो उनकी नाक के अग्रभाग पर अवसर की ताक लगाये बैठा रहता है। अपशब्द तो जैसे पुश्तैनी देन है। कहें, उसका पालन न होना मुसीबत का सामना करने के बराबर है। शराब और मांस तो जैसे उनकी प्रिय चीजों में मुख्य है।" दूसरे व्यक्ति ने कहा।

"क्या कहा? शराब भी पीते हैं?" एक ने तुरन्त प्रश्न किया।"

"हां हां! इसमें आश्चर्य की कौनसी बात है? पिता जब आदती शराबी थे तो बेटा क्यों पीछे रहेगा? यह तो सभी बातों में दो कदम आगे ही बढ़ने के प्रयत्न में रहते हैं। किशोर बाबू तो गिरते २ बच गये। जैसे ही कान पकड़ कर ऐंठा गया कि उनके जीवन का प्रवाह दूसरी ओर बदल गया। पर ये हजरत सुधर जांय, यह नितान्त असम्भव है।" दूसरे व्यक्ति ने कहा।

"किशोर बाबू का कान पकड़ कर ऐंठा गया, इसका क्या अभिप्राय ?" पहले ने कौतूहलवश पूछा।

"यह न पूछो भाई ! बात पुरानी है। गड़ी हुई बात को उखाड़ने से कोई लाभ नहीं।" दूसरा बोला।

"डर गये मालूम होता है। बघारते तो हो बड़े दून की, पर जहाँ अवसर आया कि दुम झाड़ कर अलग। कहते क्यों नहीं कि नये जमींदार का आतंक तुमसे भी अछूता नहीं।" बात मुंह से निकलआने के अभिप्राय से उत्तेजना का पुट देते हुए पहले ने कहा।"

"मैं क्या डरूंगा? क्यों भागूंगा? क्या मैं स्त्रैण हूँ, जो पीठ दिखाकर जान बचा लूं?" नहीं मानते तो लो सुनो—'किशोर बाबू की जमींदारी ढाका जिले में भी थोड़ी सी है। उनका वहां आना जाना लगा रहता था। मैं भी कई बार उनके साथ वहां गया हूँ। वहां विमलेन्दु नामक एक कुलीन और सम्पन्न ब्राह्मण थे। किशोर बाबू से उनकी दांत-काटी रोटी का-सा व्यवहार था। वे पुलिस विभाग में सुपरिन्टेन्डेन्ट के पद पर काम करते थे। वे उन्हीं के यहां ठहरा करते थे। भोजन का प्रबन्ध भी वहीं से होता था। पति और पत्नी कामिनी में अगाध प्रेम था। दोनों का स्वभाव मिलनसार और हृदय कोमल था। धर्म पर अगाध श्रद्धा था। कामिनी देवी हज़ार में एक थीं। उनके सौन्दर्य की चर्चा आस पास के गांवों तक फैली हुई थी। भला

किशोर सिंह जैसे मनचले व्यक्ति कामिनी को देख कब सम्हल सकते थे। प्रथम मिलन में ही वे ठोकर खाकर गिर पड़े। अपने को सम्हाल रखने में वे असमर्थ पा रहे थे। कामिनी के आगे उन्होंने सब्ज बाग दिखलाना आरम्भ किया। पर साध्वी और पतिपरायणा पर इनकी सभी चालबाजियां व्यर्थ सिद्ध हुई। कामिनी को जब यह मालूम हो गया कि इनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, तो उसने उनके सामने आना धीरे २ कम कर दिया, पर पति से इसलिए नहीं कहा कि कहीं बाल बन्धुओं में मनोमालन्य घर न कर ले। इसका परिणाम उलटा उन्हीं के लिए घातक हुआ......"

. "यह क्या भाई ?" बीच ही में पहले व्यक्ति ने फिर बाधा देते हुए पूछा।

"जब कह रहा हूँ तो इतनी अधीरता क्यों ? सुनो ! विमलेन्दु बाबू प्रायः अपने काम पर ही रहा करते थे। एक दिन विमलेन्दु को अनुपस्थित देख उन्होंने उस देवी का अपहरण किया। इस कार्य में अनिच्छा से मुझे भी सहयोग देना पड़ा..."

"बड़ा बुरा किया। इस पाप में सहयोग देकर तुम भी दण्ड के भागी हो।"

"अवश्य हूँ। मैं दण्ड के लिए सदा प्रस्तुत हूँ। मेरे हृदय में जो पश्चात्ताप की अग्नि जल रही है, वह कदाचित मृत्यु-

पर्यन्त सुलगती रहेगी। क्या करता ? विवश था। उस समय उनका कर्जदार था। इसका अनुचित लाभ उठाकर उन्होंने मुझे भी नराधम बनाया।"

"फिर कामिनी देवी का क्या हुआ ?"

"कामिनी का अपहरण करने पर भी उनका अभिष्ट सिद्ध नहीं हुआ। कामिनी देवी को वे वशीभूत नहीं कर सके। उन्होंने अपने सतीत्व की नींव को हिलने तक नहीं दिया। किशोर बाबू ने साम-दाम दण्ड भेद आदि का सहारा लेकर; उनकी नींव को कमजोर बनाकर धराशायी बना देने का अकथ प्रयत्न किया—पर उस नींव को हिलाने में वे स्वयं चोट खाकर पङ्गु हो गये। सती पर परमात्मा की साया रहती है। उन्होंने अपने बुद्धि बल से उन्हें ऐसा धक्का दिया कि उसका वेग वे नहीं सम्हाल सके। वह धक्का प्राण लेकर ही रहा।"

"बात क्या थी मित्र ?" उत्सुकता से पहले व्यक्ति ने पूछा।

"उस देवी ने उनकी सारी जायदाद अपने नाम लिखवा लिया और अन्त में उन्हें उल्लू बना एक रोज अदृश्य हो गयी। और यही धक्का था जो उनका प्राण लेकर रहा।

"पर इसका तुम्हारे पास क्या प्रमाण है कि वे अछूती रहीं।"

"इसका प्रमाण उनका तेज और उनका व्यक्तित्व समय पर देगा। मैं तो उस देवी को श्रद्धा से देखता हूँ। मुझसे यदि भेंट

हो जाय तो उनके चरणों पर गिरकर अपने पाप का प्रायश्चित करूँ।"

कथावार्त्ता समाप्त हो चुकी थी और लगभग ग्यारह का समय हो चुका था। लोग घबड़ा उठे थे। धीरे २ लोग सरकने लगे और पांच मिनट के अन्दर ही उस स्थान पर सिवाय प० शंकरदत्त के कोई नहीं रह गया।

उन्होंने उस दूसरे व्यक्ति की बातों से उस देवी को किसी देवी का अवतार समझा। हृदय में श्रद्धा और भक्ति का सागर उमड़ पड़ा। मन में निर्मित उस देवी की प्रतिमा पर उन्होंने श्रद्धाञ्जलि चढ़ाई।

रात्रि पर्यन्त निद्रा आने की प्रतीक्षा में करवटें बदलते रहे। पर निन्द्रा जैसे उनसे दूर ही दूर भागती रही। महल्ले के कुछ मुर्गों की ध्वनि ने उन्हें यह सूचना दी कि सबेरा हो गया है। वे उठ बैठे। रात रसोई तो बनी नहीं थी। कामकाज कुछ करना नहीं था। कमण्डल उठाया और धोती लेकर गंगा की ओर चल पड़े।

६

दूसरे दिन करीब १० बजे रणजीतसिंह ने अपने चचा सुरेन्द्रसिंह और अपने दो चार चाटुकारों के साथ गांव में प्रवेश किया। गांव के लोगों में जैसे आतंक-सा छा गया। गाँव के कुछ 'जी हजूर' कहे जाने वाले लोग अपनी वाहवाही के लिये उनके आगे पीछे चक्कर लगा रहे थे, परन्तु जमींदार की उनके प्रति उपेक्षा का भाव देख—दर्शक उनके आत्मिक अधः-पतन पर मुस्करा रहे थे।

रणजीत बाबू ने अपना निवास उसी मकान में रखा, जिसमें किशोर बाबू आकर टिका करते थे। यह मकान किशोर

बाबू ने अपनी जमींदारी की देखभाल के लिये १५-१६ वर्ष पूर्व बनवाया था। मकान को सर्वांग सुन्दर बनवाने की उन्होंने बहुत चेष्टा की। पर देहात में मनचाही सामग्री न मिलने के कारण, मन का नहीं बन सका। अस्तु! गांव के कारिन्दे ने उनका समान यथास्थान रखवा दिया। इन्तजाम ठीक हो जाने पर सुन्दरसिंह कार्य-विशेष से घर लौट गये।

रणजीतसिंह गावतकिये का सहारा लेकर जमीन पर बिछे हुए एक मोटे गद्दे पर लेटे थे। गांव के लोग प्रचीन प्रथानुसार अपनी योग्यता के अनुरूप भेंट लाकर सामने रखने लगे। जमींदार के चाटुकार ललचाई आँखों से चीजों का निरीक्षण करते हुए एक ओर हटाकर रखने में व्यस्थ थे।

गाँव के सभी लोग एक एक कर आये पर नहीं आने वालों में थे पं० शंकरदत्त जी। बृन्दाबन ने जमींदार के यहां आते समय पंडितजी को निश्चिन्त होकर पुस्तक पढ़ते हुए देख उसे आश्चर्य हुआ। उसने पंडितजी का ध्यान भग करते हुए पूछा—"क्या आपको नहीं मालूम कि जमींदार बाबू आये हुए हैं? उनसे भेंट के लिये तो जाना आवश्यक है। चलिये न।"

"मुझे सब मालूम है। पर मेरा जाना आवश्यक क्यों है?"

"क्योंकि जमींदार को भेंट चढ़ाना यहाँ का नियम है?"

"पर मैं इसका विरोधी हूं। जिस जमींदार को यह भी न मालूम हो कि उसकी प्रजा की हैसियत क्या है? जिसे कभी

भी इतना अवकाश न मिले कि प्रजा के कष्ट की जांच करे—जो अपने ही स्वार्थ में रहता हो और प्रजा के सुख दुःख का विचार तक न करे, ऐसे सत्ताधीश और मनमाना करने वाले को मैं हेय और नीच मनोवृत्तिवाला समझता हूं। उनका अन्न जरूर खाता हूं, पर आत्मा उसके बदले में नहीं बेची है। उनका अपकार नहीं चाहूँगा, पर उपकार की बात भी नहीं सोचूँगा।"

यद्यपि वृन्दावन पंडितजी के प्रभाव में आ गया पर आत्मा अभी उतनी परिष्कृत नहीं हो पायी थी कि जमींदार की उपेक्षा करता। उसने आगा-पीछा सब दिखलाते हुए, पंडितजी से कहा—"पंडितजी! उनको यदि मालूम हो जायगा कि आप उनसे मिलने नहीं गये हैं तो उनका क्रोध भड़क उठेगा। आदमी अच्छा नहीं है। कहीं कुछ कर न बैठे।"

"वृन्दावन, मैं एक सामान्य शिक्षक हूँ। मेरे अकेले के न जाने से उनका कुछ बनें बिगड़ेगा नहीं। और यदि उनकी क्रोधाग्नि भड़क भी उठेगी तो मैं उसमें झुलसने वाला नहीं। पर आत्मा पर अटल विश्वास रखने वाले के पास 'भय' शब्द नहीं होता।"

वृन्दावन को पंडितजी की बात यद्यपि सत्य प्रतीत हुई, पर इस समय जमींदार के आतंक के सामने वह कुछ अधिक जंचा नहीं। वह पंडित जी को श्रद्धा की दृष्टि से देखता था। नहीं चाहता था कि वे जमींदार की क्रोधाग्नि में आहुति पड़ें। वह

जानता था कि पंडितजी अपने वचन के पक्के और स्वाभिमानी हैं। वह अपने आत्मा के विरुद्ध कभी नहीं जा सकेंगे। मन ही मन संकल्प-विकल्प में झकोरे खाता हुआ, वह जमींदार के यहाँ पहुँचा! पहुँचते ही उसके आश्चर्य का पारावार न रहा जब उसने सुना कि पंडितजी की बात यहाँ उसके आ पहुँचने के पूर्व ही पहुँच चुकी है।

रणजीतसिंह ने वृन्दावन को सामने आया देख, उन्हीं से कहा, जाओ! पंडितजी को छोड़ और जो अन्य मास्टर हैं, उन्हें बुला लाओ।" बेचारे ने आज्ञा का पालन अनिच्छा से किया। अन्य मास्टरों में से भी केवल अंग्रेजी पढ़ानेवाले ही आये। क्यों न आते? अंग्रेजी शिक्षा की नींव ही इस बुनियाद पर डाली गयी है कि वह भारतीयों को आत्मसम्मान से दूर रख उन्हें प्रभु-सेवक बनाये रखे। उनके आते ही रणजीतसिंह ने प्रश्न किया—

"आप की पाठशाला में कितने शिक्षक हैं?"

"पहले दो थे, पर अब चार हैं।"

"शेष तीन शिक्षक क्यों नहीं आये?"

"यह मैं कैसे बता सकता हूँ।"

"अच्छा, वे पंडित महाशय कौन हैं।"

"ब्राह्मण।"

"कहाँ के रहने वाले हैं।"

"बंगाल में किसी जगह के रहने वाले हैं।"

"बिना जांच पड़ताल के, इनकी नियुक्ति कैसे की गयी?"

इसका उत्तर अंग्रेजी-शिक्षक जानते तो देते। बात को लम्बा तूल न देने के विचार से उन्होंने बात उड़ाते हुए कहा—"हजूर! यह तो मैं नहीं जानता पर पंडितजी हैं बड़े सरल और धार्मिक व्यक्ति। वे यहाँ के रीति-रस्म से भिज्ञ नहीं हैं। इसीलिये नहीं आये, वरना जरूर आते। सारा का सारा गाँव उनको श्रद्धा की दृष्टि से देखता है और हृदय से चाहता है। ऐसा व्यक्ति आप की अवहेलना करे, यह असंभव बात है।"

"हूँ! तो इसी से उसे इतना घमण्ड है। अच्छा देखूँगा उसके घमण्ड को।" और रणजीतसिंह ने क्रोधावेशमें सब को वहाँ से चले जाने की आज्ञा दी।

दूसरे दिन पण्डितजी चारपाई से उठकर बैठे ही थे कि बासन्ती आ पहुँची। सीधे रसोई घर में गयी। बरतन समेट कर माँजने लगी। पंडित जी अब उसे कभी किसी बात के लिये मना नहीं करते थे। बासन्ती ने बर्तन पर हाथ फेरते हुए कहा—"गुरुदेव! आपने जमींदार से मिलने न जाकर अच्छा नहीं किया। क्यों नहीं गये आप? सुना है उसकी उपेक्षा करने वाले से वह भीषण बदला लेता है।"

"ठीक सुना होगा तुमने, पर मुझे इसकी चिन्ता नहीं। मैंने कोई अपराध नहीं किया। इसलिये मैं निडर हूं।"

"पर वे गाँव के जमींदार हैं। उनकी शक्ति असीम है।"

"बेटी! गाँव के जमींदार अवश्य हैं, पर मेरे मनके नहीं। उनकी शक्ति उन्हीं तक सीमित है। मैं उस सीमा से परे हूँ। मैंने उनका सब पूर्व इतिहास जान लिया है। जिसकी छाया से मैं घृणा करता हूँ, जिसकी भिक्षापर मेरा निर्वाह हो रहा है, यह मैं पहले जानता तो भूखों मर जाता, पर ऐसे नराधम और पापी का अन्न ग्रहण नहीं करता। वह मेरा अपमान करेगा, इसके पूर्व ही मैं इस गाँव को नमस्कार कर लूँगा। ऐसा अवसर ही न आने दूँगा।

पंडितजी के चले जाने के ख्यालमात्र से ही बासन्ती की प्रफुल्लित मुखाकृति मलीन पड़ गयी। उसे ऐसा जान पड़ा जैसे उसकी आत्मा उससे पृथक होती चली जा रही है। वह आपाद-मस्तक सिहर उठी—आँखें सजल हो गयीं। आंसुओं की धारा बांध तोड़ कर बह चली। गला अवरुद्ध हो गया। कुछ आगे न बोल सकी।

बासन्ती की अन्तर्वेदना ने पंडित जी को भी कम व्यथित नहीं किया। कहा "बेटा! तू मेरे जाने के नाम से दुःखित हुई है, यह मैं जानता हूँ। तेरी मेरे प्रति यह ममता स्वर्गीय सुख से कम नहीं, पर लाचार हूँ। दूसरा कोई मार्ग नहीं। तू ही बता मेरे निकलने का कोई सुराख।"

"अभय दादा कहते थे कि जमींदार का क्रोध स्थायी नहीं

रहता। थोड़े में ही पिघल भी जाते हैं। क्यों नहीं आप एक बार मिल लेते।" साहस कर अवरुद्ध कण्ठ से उसने कहा।

"यह असम्भव है बेटी! और वह कमण्डल उठा गंगा की ओर चल पड़े। उनके मस्तिष्क में जैसे विचारों का तूफान उठा हुआ था। उस तूफान से टक्कर लेते हुए, वे घाट पर पहुँचे। स्नान किया। संध्या पूजा समाप्त कर घर की ओर लौटे। पर चित्तवृत्तियां चञ्चल ही बनी रहीं।

सुरेन्द्र सिंह अपने भतीजे से काम का बहाना कर उसके पास से चल तो दिये, पर घर नहीं गये। पास ही के एक गाँव में रहकर, गुप्त रीति से उसकी गतिविधि पर दृष्टि रखते रहे। आज वे अकस्मात् गंगा तट की ओर जा रहे थे कि उनकी दृष्टि पण्डितजी पर पड़ी। उन्हें यह आकृति कुछ परिचित-सी मालूम पड़ी। जैसे २ वह पण्डित जी के निकटतर आते गये, उनकी यह धारणा सत्य होती दीख पड़ी। पंडित जी को अभी तक इस बात का अनुमान तक न था कि निकट आता हुआ व्यक्ति अपनी सुप्त स्मरण शक्ति को समेट कर, उन्हें पहचानने का प्रयत्न कर रहा है। पर जब उनके आश्चर्य का वारापार न रहा, जब उस व्यक्ति ने पास आते ही उनके चरणों पर अपना माथा रख दिया। पंडित जी अवाक् से हो रहे। उन्होंने सप्रेम उठाते हुए प्रश्न किया—

"आपका परिचय!"

मैं हूँ सुरेन्द्र सिंह। मेरा अभाग्य है कि आप मुझे भूल गये। आप हैं विमलेन्दु भाई! मेरे बड़े भाई के प म मित्र।'

"भूल रहे हैं आप! मेरा नाम है शंकर भट्टाचार्य। समान आकृति के दो मनुष्य का होना कोई असम्भव बात नहीं।"

"नहीं नहीं! मुझे धोखे में डालने का प्रयत्न न करें। मैंने आपको ठीक २ पहचानने में गलती नहीं की है। आपने जो भूल की है, उसपर आवरण डालने के लिए अपने आपको छिपा रहे हैं। पत्नी के खोजने का भार न उठाकर, कर्तव्य से विमुख हो, आप मनुष्य धर्म की अवहेलना कर रहे हैं।"

"क्या कहते चले जा रहे हैं आप? होश में आइये। आप मुझे पहचानने में फिर भी भूल कर रहे हैं।"

सुरेन्द्र सिंह को अब अपने पर ही शक हुआ, पर हार नहीं मानी बोले—"मेरे एक प्रश्न का उत्तर दें। यदि अनुकूल उत्तर मिला तो समझूंगा कि मैं ही भूल पर हूँ।"

"हां! हां प्रसन्नता से पूछिये।"

"मेरे एक मित्र थे। उनकी पत्नी साध्वी और सच्चरित्रा थी। मेरे बड़े भाई उस देवी के रूपपर आसक्त हो गये। उन्होंने उसका जबरदस्ती अपहरण किया। उसे प्रलोभनों का मनोहर उद्यान दिखलाकर जीतना चाहा। पर बेतरह हार खानी पड़ी। उन्हें खासा अच्छा सबक पढ़ा कर, एक दिन वह देवी अदृश्य हो गयी। उसके अकर्मण्य पति—मेरे उ त मित्र ने

मेरे भाई के साथ-साथ अपनी पत्नी को भी दोषी समझ लिया। अपनी नौकरी और घर-गृहस्थी छोड़कर कहीं चले गये। उस साध्वी के उद्धार की कोई चेष्टा नहीं की। अब आपसे पूछता हूँ, बतलाइये उस सती स्त्री का पति भूला या मैं भूला।"

"दोनों ही भूले।"

"यह कैसे ?"

"वह बेवकूफ तो अपनी पत्नी को समझने में भूला और ......"

"और मैं आपको विमलेन्दु समझने में भूला।" बात को अधर से ही खींचकर सुरेन्द्रसिंह ने कहा।

"अवश्य।"

"अच्छा तो अब मेरी अन्तिम बात सुनिये और उसे कभी न भूलें। यह सन्देश मैं उपयुक्त व्यक्तियों तक पहुँचाया करता हूँ; ताकि उस देवी का उद्धार हो सके। यदि आपकी आकृति का कोई व्यक्ति आपको मिल जावे तो उसे यह अवश्य कहें कि उसकी स्त्री सती और निष्कलंक है। वह यदि सम्हल जाय और पत्नी को ढूँढ़ निकाले तो, उसकी इसमें भलाई ही भलाई है। यदि उसने उपेक्षा की तो सती की वेदना खाली नहीं जाती। कुछ न कुछ उनपर भी बीतकर ही रहेगी।"

सुरेन्द्रसिंह ने पुनः झुककर नमस्कार किया और अपने अभिष्ट दिशा की ओर चल पड़े। सुरेन्द्रसिंह के चले जाने के

बाद उनका मस्तिष्क चक्कर खाने लगा। हृदय-प्रदेश के अन्तराल में नानाप्रकार के विचार आन्दोलित हो रहे थे। सुरेन्द्रसिंह की एक २ बात उनके हृदय का कोना २ जैसे मथे दे रही थी। उनको ऐसा मालूम पड़ा जैसे उनकी शक्ति का ह्रास हो गया हो। वे चलने में अपने को अशक्त पा रहे थे। घर तक पहुँचते २ वे लड़खड़ाने लगे। किसी न किसी प्रकार सम्हलते हुए बरामदे में आकर धड़ाम से चारपाई पर गिर पड़े।

१०

जमींदार बाबू अपने इष्टमित्रों के साथ, एक बजड़े पर बैठे, सन्ध्याकालीन जल-विहार का आनन्द ले रहे हैं। तबला और हारमोनियम के साथ मिली हुई सुरीली तान, वायुमण्डल से टकराकर, आर पार के लोगों को भी रसपान करा रही है।

'देखा करूं दृगन सों गंगे बहार तेरी' की स्वर-लहरों पर तैरता हुआ रणजीतसिंह अपने आपको भूला बैठा था। अकस्मात् उसकी दृष्टि घाट पर, पंडितजी के कपड़े कचारती हुई बासन्ती पर पड़ी। उसके सुगठित शरीर, आकर्षक रूप और उभरे हुए वक्षस्थल पर उनकी आंखें अटक गयीं। शरीर में

रोमाञ्च हो आया। गाने की ध्वनि अब उनके कानों तक नहीं पहुँच रही थी। पहुँच रही थी केवल बासन्ती के कपड़े कचारने की ध्वनि। वायु का एक तीव्र झोंका आया और बासन्ती के सर की साड़ी को नीचे उतारता हुआ चला गया। उसके लम्बे काले २ बालों ने रणजीतसिंह को और भी उत्तेजित कर दिया। उसने अपने एक मित्र को उँगली से उधर संकेत करते हुए पूछा—"क्या तुम जानते हो, यह कौन है?"

रणजीत के इस मित्र ने कई बार इसे देखा था और यह भी जानता था कि वह विधवा और दुखियारी है। पर स्वार्थ-परता का इतना गहरा रंग चढ़ा हुआ था कि उसने अपने स्वार्थ के आगे अनिच्छा होते हुए भी बता देने में कोई हानि नहीं समझी। उसने कहा—"हां जानता क्यों नहीं? वृन्दावन बागची की लड़की है।"

"और यह वृन्दावन कौन है?"

"वृन्दावन! सरकार आपकी ही प्रजा है। आपके पिता के समय में यह एक प्यादा के रूपमें नौकर था। सरकार की इसपर विशेष कृपा रहती थी, पर एकाएक किसी बात से असन्तुष्ट हो वह नौकरी से अलग हो गया। कुछ रुपये जमा कर रखे थे, उसी को उलटफेर कर उसने कुछ पैदा कर लिया है।"

रणजीतसिंह ने एक मर्मभेदी दृष्टि से मित्र की ओर देखा और बजड़े को किनारे लगाने का आदेश दिया।

बासन्ती अपने कपड़े धोने में इतनी तल्लीन थी कि उसे अपने विषय में होते हुए षड्यन्त्र का कुछ भी पता नहीं चला। यदि वह बजड़े पर दृष्टिपात करती तो अवश्य सब कुछ समझ जाती, पर उसे तो काम समाप्त करना था। कपड़े धोकर कंधे पर रखा और घड़ा भरकर घरकी ओर चली। कुछ दूरी पर उसने अभय को जाते देखा। उसने पुकारा—"अभय दादा!"

वह पास आ गया।

"कहां जा रहे हो?"

"जा नहीं रहा हूँ—सामने खड़ा हूँ—बोल क्या कहती है?"

बासन्ती अभय के हंसमुख स्वभाव पर खिल पड़ी। बोली—"तुम तो मजाक करते हो।"

"मजाक और छोटी बहन से! मैं एक असामी को बुलाने गया था, पर तू इस समय कहां से?"

"पंडित जी के कपड़े धोने गई थी।"

"तूने जमींदार का बजड़ा वहां देखा था?"

"नहीं! मैंने तो अपने काम के आगे कुछ नहीं देखा।"

"पागली है तू—बिल्कुल पगली। सन्ध्या समय कहीं वयस्क लड़की को बाहर अकेले निकलना चाहिये? इस समय आकर अपने लिए एक महान् संकट को गले लगाया है।

बासन्ती आश्चर्यान्वित हो गई। उसे अभय दादा का

मस्तिष्क ठीक है कि नहीं, इस बात पर शक हुआ। उसने व्यग्रता में पूछा "कैसा संकट? मैंने तो किसी का कुछ नहीं बिगाड़ा।"

"किसी का कुछ नहीं बिगाड़ने वाला ही, इस संसार में सताया जाता है; दुनिया पाप की ओर जो बढ़ी चली जा रही है। जमींदार आज जल-विहार कर रहा था। उसकी दृष्टि तुझपर पड़े बिना नहीं रही होगी।"

"पर तुम भी तो संशय में ही चक्कर खाकर गिर-उठ रहे हो। यदि उसने न देखा हो तो...."

"अरे पगली! क्या वह बजड़े पर सोने गया था। आनन्द का बहार लेने ही तो गया था। फिर कैसे तू समझती है कि उसने नहीं देखा होगा।"

"दादा! अब क्या होगा?" अधीरता में उसने पूछा।

"अब तो परमात्मा का आश्रय ले भाग्य से लड़ना होगा। गाँव के लोगों की आत्मा गिर चुकी है। किसी में आत्माभिमान का लेशमात्र नहीं। दूसरों के पैरों तले कुचला जाना ही उन्हें पसन्द है, अत्याचार सहकर सन्तोष की सांस ले लेने में वे अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं, तो भला उनसे सहायता की आशा कब की जा सकती है। यदि किसी में आत्माभिमान है तो शंकर पंडित में और उन्हीं के बल पर दो चार और में।"

"पर तुम इतना क्यों घबड़ा रहे हो।"

"इसलिए कि तुमपर किसी प्रकार की आंच मैं सहन नहीं कर सकूँगा। मुझे उस आंच के सामने आना होगा, चाहे परिणाम कुछ भी हो। तुम्हारे मानापमान को मैं अपना मानापमान समझता हूँ और यदि बहिन के लिए भाई घबड़ाता है तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं। मेरे और पंडित जी के रहते तुम किसी बात की चिन्ता न करना। अब जा रहा हूँ। कई काम करने हैं—फिर मिलूंगा।" और वह चला गया।

दूसरे दिन प्रातःकाल को अभी वृन्दावन सोकर उठा ही था कि द्वार पर थपकी और पुकारने की आवाज उसने सुनी। उसे इस आवाज में आज्ञा की झलक मालूम पड़ी। वह कुछ घबड़ाया, कुछ चिन्तित हुआ। आनेवाले की बात को सुने बिना छुटकारा नहीं, यह विचार कर उसने द्वारा की सांकल खोली। देखा सामने जमींदार का प्यादा धन्ना खड़ा है।

"कहो भाई कैसे आये?" धन्ना के पेट में से शीघ्र बात निकाल लेने के लिए उसने तुरन्त पूछा।

"तुम्हें जमींदार साहब ने याद किया है।"

"कारण!" साश्चर्य उसने पूछा।

"यह मैं नौकर होकर कैसे जान सकता हूँ?"

वृन्दावन जान गया कि जमींदार का बुलाना बिना कारण नहीं हो सकता। अवश्य वह अपनी किसी पिपासा की

शान्ति के लिए मुझे नदी का बहता पानी समझ कर ढूँढ़ निकाला है। वह धन्ना के साथ चल पड़ा। रास्ते में विविध तर्क वितर्कों में उलझता— सुलझता, वह जमींदार के सामने पहुँचा। जमींदार अपने एक दो चाटुकारों के साथ तकिये के सहारे अर्धाकार लेटा था। उसने झुककर अभिवादन किया और एक ओर खड़ा हो गया।

प्रकोष्ठ का वातावरण गम्भीर और शान्त था। कोई किसी से बोल नहीं रहा था। एकाएक जमींदार ने वृन्दावन को उद्देश कर पूछा—

"क्या तुम्हारा ही नाम वृन्दावन है ?"

"जी सरकार।"

"तुम्हारे परिवार में कितने लोग हैं ?"

"मैं, मेरी पत्नी और मेरी विधवा पुत्री। बस ! यही मेरा छोटा-सा परिवार है।"

"तुम्हारी आय क्या है ?"

"बस परिवार का भरण-पोषण कर लेता हूँ।" बात यद्यपि वृन्दावन ने सत्य कही थी पर उसे ऐसा लगा जैसे उसने इतना नीचे गिरकर अच्छा नहीं किया।

'ओह ! तो तुम्हें द्रव्योपार्जन के लिए बहुत परिश्रम करना पड़ता है। न मालूम क्यों तुम्हें देखकर, मेरा हृदय तुम्हारी ओर अनायास ही आकर्षित हो गया है। तुम्हारी कार्य-पटुता और

ईमानदारी की बात मैं और लोगों से सुन चुका हूँ। मैं तुम्हें अपने इलाके की देख भाल के लिए २००) मासिक पर नियुक्त करता हूँ।" जमींदार ने प्रलोभन का तीक्ष्ण तीर छोड़ा।

जमींदार के इस प्रलोभन से वृन्दावन सिहर उठा। किसी भयंकर षड्यन्त्र के आभास ने उसके मस्तिष्क को घुमा दिया। क्या मैं इस जालिम जमींदार के षड्यन्त्र में सहायक बन सकूँगा? यदि नहीं तो क्या उसके तीक्ष्ण प्रहार के आगे टिक सकूँगा? मैंने यदि अस्वीकार किया तो वह मुझे उखाड़ फेंकेगा—मेरे परिवार की दुर्दशा कर डालेगा। दाने-दाने के लिये दूसरों का आश्रित बना देगा। क्षणमात्र में ये विचार उसकी आंखों के सामने नाच उठे। विचारों के काले २ घनघोर बादलों ने उसके आगे अन्धकार फैला दिया। उसे वह प्रकोष्ठ अन्धकार-पुञ्ज सा मालूम पड़ा। चक्कर आने लगा। चक्कर के आवेग को न सह सकने के कारण वह जहाँ खड़ा था, वहीं बैठ गया।

जमींदार के एक चाटुकार ने जमींदार से कहा "आपके सामने वह कुछ डरा-सा मालूम पड़ता है। आपके सामने खुल-बातें करने में वह हिचकेगा। मैं इसे अलग ले जाकर समझाऊँ, यदि आपकी आज्ञा मिले।"

'ठीक है, ठीक है तुम्हारी उक्ति! ले जा सकते हो।"

उस चाटुकार ने वृन्दावन को कृत्रिम प्यार का सहारा देकर उठाया और पार्श्व के प्रकोष्ठ में ले जाकर एक आराम-

कुर्सी पर लिटा दिया। एक कुर्सी खींचकर वह पंखे से हवा करने लगा। पंखे की शीतल वायु ने वृन्दावन को शीघ्र स्वस्थ कर दिया। वृन्दावन को ठीक हालत में देख, उसने कहा—

"जमींदार साहब की कृपा क्यों नहीं स्वीकार कर लेते। उनकी आदत है कि जिसकी बड़ाई सुन लेते हैं, उसके लिए वे सब कुछ कर बैठते हैं।"

वृन्दाबन समझ गया कि इस कृपा की आड़ में उनकी विधवा पुत्री बासन्ती खड़ी है। उसी के पाने की कठिनाई को सरल करने के लिए ही यह प्रलोभन—यह जाल बिछाया जा रहा है। उसने अब निर्भयतापूर्वक उत्तर दिया "छोटे को एक बारगी ऊँचे चढ़ा देना, उसे जान बूझकर नीचे ढकेल देना है। छोटा अपने छुटपन में ही बड़प्पन समझता है—उसे ऊँचे पद का लोभ नहीं होता। यदि होता तो परमात्मा ने उसे छोटा बनाया ही न होता। हम धीरे २ ऊपर चढ़ने में अपनी सुरक्षा समझते हैं—पैसे के उन्माद में ऊपर चढ़कर गिरने का अवसर छोटा अपने पास कभी नहीं आने देगा। वह पैसेवालों की तरह अंधा नहीं जो बार २ चढ़े और गिरे। मुझे उनकी कृपा नहीं चाहिए।"

वृन्दाबन की इन निर्भीक बातों ने चाटुकार को आश्चर्य में डाल दिया। उसे कोई सुगम मार्ग नहीं दीख रहा था, जिस-पर वह वृन्दाबन को घसीट लावे। वह आया था बात का

सुलझाने पर अपने को ही बुरी तरह उलझन में लिपटी पाया। कोई सरल उपाय न देख उसने नम्र स्वर में कहा—

'पर इसमें बुराई क्या है? मुझे तो कोई हानि नहीं दीखती।"

"तुम्हें क्यों दिखेगी? स्वार्थ के आवरण की ओट में छिपा हानि लाभ तब तक नहीं दीखता, जब तक स्वार्थ का आवरण छिन्न भिन्न नहीं हो जाता। तुम्हें तो जमींदार के चमकते हुए चाँदी के चन्द टुकड़ों ने अन्धा बना दिया है। वह गरीब जो अपने पसीने की कमाई पर ही अपने में आत्मसंतोष पाता है, उसकी आँखें अन्धी नहीं होतीं। उसकी आंखों में सचाई का प्रकाश दौड़ता रहता है। उस प्रकाश में वह क्या बुरा है—क्या अच्छा है सब देख लेता है। जमींदार के, प्रलोभन की छाया में जो पाप नाच रहा है वह मेरी आंखों से तिरोहित नहीं होने का। वह मेरी कार्यपटुता और दक्षता पर मुग्ध नहीं, वरन् मेरी पुत्री के रूपपर मुग्ध है।" और वृन्दावन ने तीव्र कटाक्ष से चाटुकार की ओर देखा।

चाटुकार वृन्दावन को अबतक एक साधारण ग्रामीण ही दिखलाई पड़ा था। उसकी दूरदर्शिता और निर्भीकता पर उसे ईर्ष्या हुई। बात खुल जाने पर वह भी खुल पड़ा।—बोला—"यदि वह तुम्हारी लड़की पर मुग्ध है तो भी कोई हानि नहीं। विधवा है—जमींदार की कृपा से उसकी जीवन—नैया बीच में न डूबकर पार लग जायगी। कौन पिता चाहेगा कि पुत्री की जीवन-नैया बीच में पड़ी २ भँवरों में समा जाने की राह ताकती रहे।"

"मैं चाहूँगा।" उसकी बातों को बीच में ही अविराम देते हुए क्रोधावेश में कड़क कर बृन्दावन ने कहा "अपनी पुत्री की मान-मर्यादा को लुटते देख, चुप रह जाने वाला पिता नहीं, अधम है—नीच है—चाण्डाल है। मैं छोटा हूँ तो क्या छोटों की कोई हस्ती नहीं—उनकी कोई मर्यादा नहीं? पैसेवाले, अपने अस्थायी धन और प्रतिष्ठा की ढाल के नीचे छोटों को दबा कर उनका मुंह बन्द कर सकते हैं पर आत्मा का हनन नहीं कर सकते। उन्हीं की 'आह' का परिणाम है कि आज गरीबों को सताकर जो अमीर हुआ, वह कल गरीब हो जाता है। वह विधवा है—पर उसी में वह प्रसन्न है। उसकी जीवन नैया का खेने वाला परमात्मा है—मनुष्य नहीं। चाहे वह पार लगा दे या डुबो दे। तुमपर और जमींदार साहब पर हजार बार धिक्कार है, जो अपनी ही सन्तान को कुदृष्टि से देखता है।"

बृन्दावन इतना कहते २ इतनी जोर से बोलने लगा था कि बगल की कोठरी में बैठे जमींदार आदि स्तब्ध हो गये। वे उसी कोठरी में आ धमके, जिसमें बृन्दावन और चाटुकार पहले से बात कर रहे थे। जमींदार ने अन्तिम वाक्य सुन लिये थे। सुनते ही उनकी क्रोधाग्नि भड़क उठी। उन्होंने आग उगलते हुए नेत्र से बृन्दावन की ओर देखा। अधिकार-सूचक कांपते हुए स्वर में बोले—"बृन्दावन! बहुत 'तरह' दे चुका। देखता हूँ तुम्हारा अभिमान तुम्हें निगल जाना चाहता है।

पास पड़ी हुई लक्ष्मी और कृपा को ठुकरा देने में कुशलता नहीं। मैं तुम्हारा अन्तिम निर्णय एक शब्दों में सुनना चाहता हूँ। बोलो, मेरा प्रस्ताव स्वीकार है या नहीं।"

"नहीं।" अकड़कर निर्भयतापूर्वक उसने उत्तर दिया।

और उसके ऊपर तड़ातड़ दो चार थप्पड़ और घूसे बरस पड़े। पहले पहल पिंजड़े में रखे जाते हुए पक्षी की तरह वह फटफटा उठा। दो चार नर-राक्षसों के बीच में वह अकेला क्या कर सकता था? मन ही मन कटकटाता हुआ क्षोभ के आँसू गिरा रहा था। मौन होकर सब कष्ट सहने के लिये अपने को कड़ा कर लिया।

जमींदार ने समझा था दो चार थप्पड़ों में ही, वह रास्ते पर आ जायगा, पर उसके मौनावलम्बन ने उनके क्रोध में घी की और आहुति छोड़ दी। उन्होंने कोड़ा उठाया और इतना मारा कि वह बेहोश होकर लुढ़क पड़ा। जमींदार ने निर्दयता-पूर्वक उसे ले जाने का आदेश दिया।

११

बृन्दावन की चेतना जब लौटी तो उसने अपने को गाँव के किनारे एक पेड़ के नीचे पड़े पाया। वह पेड़ के तने का सहारा लेकर उठा। बाहर शरीर में अत्यन्त पीड़ा हो रही थी और भीतर हृदय में अग्नि की उची २ ज्वालायें लपटें मार रही थीं। किसी तरह अपने को कड़ा बनाकर लुढ़कते पड़ते घर पहुँचा। पर वहां पहुँचकर उसने अपने को ऐसा बना लिया जैसे कुछ हुआ ही नहीं है। वह चाहता था कि पुत्री को मेरी दुर्गति मालूम न हो।

दौड़ती हुई बासन्ती ने आकर कहा—"पिताजी! भोजन

तैयार है। कब से आप की राह देखी जा रही है। चलिये खा लीजिये।

वृन्दावन भोजन करने बैठ गया। बासन्ती पास बैठकर पंखा झलने लगी। उसकी शान्त और सरल मुखाकृति को देखकर वृन्दावन खाते २ सोचने लगा—यह वही बासन्ती है, जो उसे अपनी पूर्व पत्नी की मृत्यु के मरने पर स्मृति के रूप में मिली है ? कौन कह सकता है कि यह एक दरिद्र और निम्न श्रेणी की जाति की लड़की है ? उसका रहन सहन, उसका लोक-व्यवहार क्या किसी सम्पन्न और द्विजाति की लड़की से कम है ? कैसा आकर्षण है इसके रूप में ? अपनी प्रतिमूर्ति को क्या मैं जमींदार की पाप-वेदी पर बलि चढ़ जाने दूँगा। इन्हीं विचारों में वह इतना तल्लीन हो गया कि कौर उठाना भूलकर बासन्ती को स्थिर दृष्टि से देखने लगा।

बासन्ती अवाक् रह गयी पिता की इस विचित्र मुखमुद्रा को देखकर। पिता के इस तरह देखने में उसे कुछ शंका का आभास मिला। अवश्य आज कोई न कोई नवीन घटना मुझे लेकर हुई है। नहीं तो कारण क्या कि मुझे इस तरह देख रहे हैं। उनकी आँखों में तो ऐसी ममता और दया आज के पहले कभी नहीं देखी थी। उसने उत्सुकता से पूछा—

"क्या देख रहे हैं पिताजी ? किस चिन्ता में बहे जा रहे हैं ? पहले तो आप ऐसे चिन्तित नहीं दीखते थे। मुझे बताइये,

शायद मैं आप की इस चिन्ता को कम कर सकूँ।"

पुत्री की इस सहृदयता पर वृन्दावन पानी २ हो गया। उसका सारा दर्द और सारी चिन्ता क्षण-मात्र के लिये लोप हो गयी। उसने जल्दी २ भोजन समाप्त किया और मुँह धोकर बाहर जाने को तैयार ही था कि पुत्री ने वही अपना पूर्व प्रश्न दुहराया "बताइये पिताजी? क्या चिन्ता है आप को।"

"क्या बताऊँ बेटी? चिन्ता में घुल घुलकर मर जाऊँ तो अपने को धन्य समझूँगा, यदि तेरी मान मर्यादा पर आँच न आये।" और वह झपाटे के साथ बाहर चला गया।

बासन्ती अभय से पूर्वाभास पा चुकी थी। उसी के आधार पर उसने निष्कर्ष निकाल लिया। समझ लिया पिता के चिन्ता का कारण। उसे अपने जीवन पर घोर दुःख हुआ। परमात्मा ने उसे क्यों जीवित रखा है? स्वयं सुख से वंचित होकर दूसरों के सुख में भी कंटक हो रही है। जीवित रहकर क्या उपकार करूँगी लोगों का? जो अपने पिता को अपनी माता को प्रसन्न नहीं रख सकती, वह बाहर के लोगों को क्या बांटेगी। जिसके पास कुछ है ही नहीं, वह देगी क्या? और झर २ आंसुओं की धारा बह चली।

इसी बीच उसकी विमाता उधर से निकली। बासन्ती को एक कोने में बैठकर आंसू बहाती हुई देख, उसे शान्ति देना तो दूर रहा, उल्टे गरज कर बोली—"जब देखो तब रोना?

क्या ये अच्छे लक्षण हैं। काम न करना हो तो मत कर, पर रोती क्यों है? मैं इस भुलावे में आने वाली नहीं। सारा चौका भिन्न २ कर रहा है। बर्तन इधर उधर लुढ़के पड़े हैं— जिधर देखो ढेर के ढेर कतवार पड़े हैं। आखिर इस तरह करने से घर चौपट करना है या बनाना है। न करना हो कह दे, मैं कर लूंगी।

"बस! बस करो मां। बहुत न कहो। मैं तड़के ही झाड़ू लगा चुकी थी, फिर कतवार कहां से आ गया? पिताजी के खाने के बाद मैंने चौका धोकर बची हुई रसोई को ढांप-तोप दिया था, फिर भिन २ कैसे करने लगा—समझ में नहीं आता। खैर! मैं सब जाकर ठीक किये देती हूँ, पर व्यंग न बोलें। मेरे रोने का कारण मैं ही समझ सकती हूँ—समझा नहीं सकती।"

"समझा अपने लाड़ले अभय को और दुलारे पिता को। मैं तेरी कौन होती हूँ जो मुझे बतलायेगी। मैं तो कुतिया के समान हो गई हूँ, जो चाहे दुत्कार दे—जो चाहे मनमाना कह ले—" और लगी वह जोर २ से रोने।

उसका रोना सुन वृन्दावन भीतर आया। पत्नी के इस कुसमय में रोने का कारण उसकी समझ में नहीं आया, यह बात नहीं। वह जानता था कि इस घर में वासन्ती को छोड़ दूसरा है ही कौन? जो उसके रोने का कारण होगा। वासन्ती के

जैसे पीछे पड़ गई है। बेचारी को यह दुष्टा बातों की चोट से ही मार डालना चाहती है, पर मैं ऐसा अब थोड़े ही होने दूँगा। उसने कड़क कर पूछा—"क्यों रोती हो? क्या कारण है? मैं इस तरह का ऊधम अधिक नहीं होने दूँगा। बात की बात में रो पड़ना अच्छी औरतों के लक्षण नहीं। शान्ति से रहना हो तो रहो—वरना घरका रास्ता लो।"

चित्राने समझा था मेरे रोने की आवाज से पतिदेव आकर प्रेमसे मुझसे कारण पूछेंगे। मैं उलटी सीधी समझा कर वासन्ती को मन भर कहूँगी। पर आते ही अपने ऊपर उन्हें गिरता देख, वह सम्हल गयी। जोरों का रोना निमेषमात्र में शांत हो गया, जैसे पहले रोई ही नहीं हो। उसने आँख निकालते हुए कहा—"घर ही भेजना था तो विवाह क्यों लाये? निबाहने की शक्ति नहीं थी तो चुप घर बैठे रहते। क्यों मेरे घर के द्वार पर सौ-सौ बार सर पटकने गये थे? मेरे पिताने थोड़े ही जबरदस्ती तुम्हारे मत्थे मढ़ दिया था, तुम्हींने नाक रगड़ कर उस बोझ को उठाया था। अब ढोने का वक्त आया तो कतराते क्यों हो? बोझ भारी मालूम पड़ता है तो मुझे जहर देकर मार डालो, हल्के हो जाओगे। न रहूँगी—न बाप बेटी को दुःख दूँगी।"

"देखो चित्रा! मैं बात को तूल नहीं देना चाहता। मैं कलहपूर्ण जीवन से ऊब चुका हूँ। यदि इसी तरह जीवन के दुःखों से लड़ता रहूँगा तो एकाएक एक दिन मुझे खो बैठोगी।

कलह ने मेरे शरीर को जर्जर बना दिया है। उसे अच्छा रूप देना अब तुम्हारे हाथ में है। उसका केवल यही एक रास्ता है कि तुम नम्र बनो—बासन्ती को समझो—उसे समझकर तुम अपने को भी समझ सकोगी। सब का कल्याण होगा।"

"खाक कल्याण होगा। पुत्री के प्यारने तो तुम्हें अंधा बना दिया है। न मालूम इसने कौन सा जादू कर दिया है कि तुम मुझे एकदम भूल गये हो। पुत्री को समझाओ, मैं समझी हुई हूँ।"

बृन्दाबन ने देखा पत्नी ईर्ष्या के गहरे पर्दे से ढंकी है। उस पर्दे को वही हटा सकती है—दूसरे की शक्ति काम नहीं कर सकती। वह आगे बिना कुछ बोले चले गया।

चित्रा झनक पटक कर रसोई घर में घुसी और बासन्ती अपने कमरे में। कलह की भीषण ज्वाला घर को खोखला बनाती जा रही थी।

बृन्दाबन एक चिन्ता से छूटा तो दूसरी चिन्ता ने फिर घेर लिया। बासन्ती का क्या होगा? यह चिन्ता उसे मथ रही थी। उसे इस समय सिवाय शंकर पंडित के और कोई मार्ग-प्रदर्शक नहीं दीख पड़ा। कपड़ा पहन वह सीधे पंडितजी के यहाँ पहुँचे। नमस्कार किया और बैठ गया।

पंडितजी ने मध्यान्ह में, कड़कड़ाती धूप और लू में उसे आया देख जान गये कि अवश्य कोई महत्व की बात कहने आया है। उन्होंने पूछा—"कैसे पधारे हो बृन्दाबन।"

"क्या कहूँ पंडित जी। बात बड़ी भयानक है। आपके परामर्श की आवश्यकता समझ आया हूँ।"

"कहो! कहो! मैं यथाशक्ति सत्परामर्श दूँगा—सहायता भी करूँगा।"

"जमींदार ने एक बहुत ही घृणित प्रस्ताव मेरे सामने रखा है।"

"वह क्या?" आश्चर्य मुद्रा से उन्होंने पूछा—

"वासन्ती को वह चाहता है। कहता है मेरे पास भेज दो।"

"अयँ! ऐसा पतित विचार है उसका।"

"हाँ महाराज! कुछ समझ में नहीं आता क्या करूँ?"

"साफ बात तो है। एक तरफ है, धन, मान और अधिकार और दूसरी ओर है निष्कलंक, पवित्र सती कन्या का सतीत्व। कौन प्यारा है तुम्हें।"

"कन्या का सतीत्व।"

"तो मार्ग में आनेवाली प्रत्येक विपदाओं को सहन करने के लिये हृदय को कठोर बना लो। मान-रक्षा में जीवन की आहुति ही मनुष्य की उच्चतम परीक्षा है। उसकी यही सफलता उसकी महत्ता को बढ़ाती है। जिसने मान खो दिया वह मनुष्य-योनि में कीड़े के समान है—जिसके मरने या जीने का कोई मूल्य नहीं।"

"आशीर्वाद चाहता हूँ पंडित जी। मैं आप के सदुपदेश

के बल पर शत्रु से लोहा ले सकूँगा, इसका मुझे विश्वास है।"

पंडितजी ने उसे अभय-दान दिया। वह अपने में एक अपूर्व शक्ति लिये घर लौटा।

१२

रात्रिपर्यन्त बासन्ती विचारों के तूफान में डूबती उतराती जागती रह गयी। माता का व्यवहार, पिता का कष्ट, गांव का गंदा वातावरण, जमींदार का अत्याचार आदि, सभी मिलकर उसके लिये काफी चिन्ता के विषय हो गये थे। क्या इन सब की जड़ में मैं हूँ, या पुरुष समाज। पुरुष समाज ही तो वातावरणों में विषैले कीटाणु फैलाकर स्वयं विषयुक्त हो गया है। पुरुष ने ही तो समाज का निर्माण किया है, जिसकी आड़ में वह चाहे जितना पाप, जितना अत्याचार करे कोई बोलने वाला नहीं, पर यदि किसी स्त्री का पैर पिछल गया तो समाज एक

होकर उसे उठायेगा नहीं वरन उसे बार २ फिसलने के लिये स्वतंत्रता दे देगा—जाति से बहिष्कृत कर देगा। यही न्याय है इन वीर और सर ऊँचा उठाकर चलने वाले पुरुषों का। जमींदार मेरा सतीत्व हरण करना चाहता है और गांव का समाज यह बात जानते हुए भी, मेरी रक्षा की चिन्ता से दूर है। क्या पड़ी है उसे? भले ही मैं जीऊँ या मरूँ? समाज न सही, परमात्मा तो साथ देगा—उन्हीं को आगे कर—अभय दादा और पंडित जी के आशीर्वाद से मैं अकेली आनेवाली विपदाओं से लड़ूँगी—स्त्री की अनिच्छा होते हुए, कैसे कोई उसके सतीत्व को नष्ट कर सकता है? देखूँगी इस पापी जमींदार को कि कितनी शक्ति रखता है। इसी आवेश में वह उठी और सीधे पंडित जी के घर की ओर चल पड़ी।

वह यह भूल गयी कि उसे बाहर अकेली जाने की मनाही हो चुकी है। द्वार पर पहुँचकर पंडितजी को आवाज दी। किवाड़ उठङाया हुआ था—धीरे से ढकेलते ही खुल गया। भीतर घुस गयी। पंडितजी घर में उपस्थित नहीं थे। घर में जो कुछ बर्तन था मांज धोकर घाट की ओर चली।

बासन्ती को रात निद्रा नहीं आयी थी, इसलिये बड़े तड़के ही पंडित जी के घर पहुँची थी। घाट पर जिस समय पहुँची ६—७ के बीच का समय था। पथ सुनसान था और घाट भी। घाट की पहिली सीढ़ी पर पैर रखते ही वह चौंक पड़ी और चीख

निकल कर शून्य वातावरण में विलीन हो गयी। पीछे से किसी ने उसके मुँह को दबाकर गले में हाथ डाल दिया था। बासन्ती पहले तो घबड़ा उठी, पर विपत्ति पर विपत्ति झेलते २ उसका हृदय कड़ा हो चुका था। आई हुई विपत्ति की भीषणता को ख्याल कर शीघ्रही उसने अपने को संयत कर लिया और एका एक आगे की ओर ऐसे झटके से झुकी कि पीछे वाला आदमी उसकी पीठ पर होता हुआ सामने गिर पड़ा। इतने पर ही विपत्ति समाप्त नहीं हुई। पास ही छिपे दो अन्य आदमियों ने आकर उसे फिर पकड़ लिया। दो में से एक को उसने ऐसे जोर से दांत काटा कि वह चीख पड़ा—खून की धारा बह चली। वह अपने घाव के बांधने में ही लग गया। पर दूसरा बलिष्ठ था। उसने ऐसे जोर से उसे पकड़ रखा कि अब उससे हिला-डुला तक नहीं जा सकता था। इतने में पहला चित्त गिरा हुआ आदमी भी शरीर झाड़-पोंछ कर आ गया। दोनों ने मिलकर उसके हाथ पैर बांध दिये और मुंह में कपड़ा ठूंस दिया। अभी दोनों निश्चिन्त भी न होने पाये थे कि एक कर्कश ध्वनि उनके कानों में पड़ी—

"खबरदार !"

"कौन ?"

"तुम्हारा काल" और वह व्यक्ति सामने आ गया।

पंडित जी को कौन ऐसा था, जो न पहचानता हो। उन्होंने

पंडित जी को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हुए कहा—"अच्छा होगा, यदि आप बीच में न पड़ें।"

"क्यों? अपनी आंखों के सामने एक अबला का अपहरण होते देख वही मनुष्य स्थिर रह सकता है जो निर्वीर्य है—जिनके लिए अपनी माता बहिन में कोई भेद नहीं रह जाता—स्त्री-मात्र का अनादर माता का अनादर है, यह जानने वाला व्यक्ति विरोध ही नहीं उसके लिए अपनी जान पर भी खेल जायगा। मैं स्त्री-जाति का आदर करता हूँ और इसलिए तुम्हें उपदेश देता हूँ कि इस घृणित कार्य से विरत हो जाओ। कमजोर को सताने में बहादुरी नहीं। बहादुरी है, बहादुर के साथ लोहा लेने में। एक स्त्री पर तीन का आक्रमण नीचता का द्योतक है—पुरुष होकर पुरुष के नाम पर कलंक लगाना है। छोड़ दो उसे।"

"चलो-चलो पंडित! अपना रास्ता देखो। हमारे बीच में आकर अपने लिए विपत्ति न खरीदो। हम जमींदार का नमक खाते हैं—नमकहरामी नहीं करेंगे।"

"कौन कहता है नमकहरामी करने को। तुमने गलत मतलब समझा—नमकहरामी कहते हैं, जमींदार का नमक खाकर उन्हींके जड़ को खोदने को। उन्हींके पैसों से उन्हींको उखाड़ फेंकना, नमकहरामी है। फिर कहता हूँ—बुरा काम है—बुरे काम से हाथ खींच लेने में नमकहरामी नहीं—पुण्य है।"

तीनों व्यक्तियों की आंखों पर जमींदार के दिये हुए सुनहरे प्रलोभनों का चश्मा चढ़ा हुआ था। पंडित जी की सारी बातें उनके लिए उलटे घड़े पर पानी की भांति सिद्ध हुईं। उनमें से एक ने कहा—"रह दिया, उपदेश जाकर गांव के लड़कों को दीजिये, हमें देकर मुंह का तकलीफ न दें।"

"न मानोगे तुम लोग।"

"नहीं।"

पंडित जी ने समझ लिया कि अब सीधे न चल कर टेढ़े चलना होगा—लकड़ी पकड़ाने पर भी अन्धा यदि न पकड़े तो इसमें पकड़ाने वाले का क्या दोष? आमीण घाट होने के कारण वे हमेशा लाठी लेकर चला करते थे। उन्होंने तुरन्त लाठी का भरपूर प्रहार 'नहीं' कहने वाले के सर पर किया। बेल फटने जैसी आवाज हुई और वह लड़खड़ा कर जमीन पर लोट गया। दूसरे व्यक्ति के सम्हलने के पूर्व ही, पुनः लाठी का प्रहार हुआ। उसकी भी दशा वही हुई, जो पहले की हुई थी। तीसरा डर कर भागा। इस समय तक बासन्ती ने अपने बंधन छुड़ा लिये थे।

वह तेजी से गंगा की बहती धारा की ओर दौड़ चली। पंडित जी बासन्ती के इस आकस्मिक पागलपन से अवाक् हो गये। उसके पीछे दौड़े। तब तक वह एक ऊँचे कगार पर पहुँच चुकी थी। उलट कर देखा, पंडित जी बेतहाशा उसी

ओर दौड़े आ रहे हैं। उनके पास आते २ वह गंगा की धारा में कूद पड़ी। पंडितजी भी निमेषमात्र में उसी के पीछे कूद पड़े। दोनों गंगा की तीव्र धारा में बह चले। अकथ प्रयत्न करने पर उनके हाथों में बासन्ती के केश आ गये। उसी के सहारे उसे वे किनारे तक घसीट लाने में समर्थ हो सके।

बासन्ती होश में नहीं थी। होश में लाने के लिये उन्होंने प्रारम्भिक उपचार किया। पानी में बहुत देर नहीं बीता था, इसलिये शीघ्र ही उसकी चेतना लौट आई। पंडितजी की मुखकृति पर प्रसन्नता की रेखा दौड़ गयी। बासन्तीने पंडितजी की ओर आहत दृष्टि से देखा और क्षीण स्वर में बोली—

"मुझे बचाकर अच्छा नहीं किया गुरुदेव !"

"ऐसा क्यों कह रही है पगली ?"

"इसलिये कि आप ने मेरे दुख को और लम्बा बना दिया। जड़ को काट देने के विचार से ही मैं गंगा की शरण में गयी थी, पर मालूम होता है अभी भयंकर आपत्तियों का झेलना बाकी है।"

"बेटा ! विपत्तियों को हंसते खेलते झेलने में ही मनुष्य-जीवन की श्रेष्ठता है। जो विपत्ति झेलते हुए आगे बढ़ता चला जाता है, वह महान् है। विपत्ति से घबड़ा कर जो किनारा कसता है वह जीवन की दौड़ में गिरता ही जायगा—कभी उठेगा नहीं। चल, तुझे घर पहुँचा दूँ।

"पर मैं घर नहीं जाऊँगी।"

"क्यों?"

"मेरे घर जाने से पिता के अनिष्ट होने की सम्भावना है। अनिष्ट ही जिसके पल्ले में हो वह सुख कहां से दे सकेगी। जमींदार मुझे न पा सकेगा तो पिता के ऊपर जोर देगा—उन्हें शारीरिक कष्ट देगा, उनकी संपत्ति आदि का अपहरण कर लेगा।"

"नहीं जाने से भी तो यही बात होगी।"

"तो मुझे डूब मरने दें। न रहूँगी न दूसरों के कष्ट का कारण बनूँगी।"

"बेटी! अभी तेरा मस्तिष्क अव्यवस्थित है। यदि पिता के घर नहीं जायगी तो चल मेरे ही घर चल।"

"पर आप पर भी तो वही अनिष्ट पीछे २ घूमता फिरेगा।"

"चिन्ता न कर! मैं परमात्मा का अन्धभक्त हूँ। उसी के बल पर मैं चल रहा हूँ—जब तक उसकी छाया मुझपर रहेगी, मेरा कोई अनिष्ट नहीं हो सकता। एक जमींदार क्या हजार जमींदारों के अत्याचार होने पर भी मैं विचलित नहीं हूँगा। तेरी रक्षा का भार मैं लेता हूँ।"

बासन्ती की आँखों में आत्मसमर्पण झलक उठा। पंडितजी ने उसे हाथ पकड़कर उठाया। आगे २ वह और पीछे २ बासन्ती उनका पदानुसरण करती चली जा रही थी।

———:o:———

१३

घर पहुँच कर बासन्ती के आश्चर्य की सीमा न रही जब उसने पंडित जी से सुना "आकर रसोई बना, मैं अभी आता हूँ।"

"घर में कैसे बना सकती हूँ ?"

"क्यों ? नम्न तू क्या श्रेणी में जन्म लेकर मनुष्य नहीं रही ! मनुष्य २ एक हैं। परमात्मा ने सब को एक ही रूप में पैदा किया है, फिर भिन्नता कैसी ? जाति भेद का निर्माणकर्ता मनुष्य, परमात्मा के नियम को नहीं तोड़ सकता। परमात्मा सर्वव्यापी है वह प्रत्येक व्यक्ति में वास करता है। फिर एक

दूसरे का अपमान क्या परमात्मा का अपमान नहीं ? मैं मनुष्य-मात्र को एक समझता हूँ। एक समझने वाले के सामने अनेक का प्रश्न ही नहीं उठता। जा रसोईं बना।"

बासन्ती पंडितजी के तर्क के आगे मात खा गई। संस्कार के कारण वह रसोईं बनाने में यद्यपि हिचक रही थी, पर पंडित जी के असंतुष्ट होने के भय ने उसे रसोईं बनाने के लिये मजबूर किया।

रसोईं हो गई। पंडित जी और बासन्ती दोनों ने आमने सामने बैठकर भोजन किया। खाते २ पंडित जी रसोई की तारीफ करते जा रहे थे। बासन्ती मन ही मन कुछ लज्जित और कुछ प्रसन्न हो रही थी।

इसी बीच वृन्दावन बासन्ती को खोजते २ यहीं आ पहुँचा। बासन्ती को रसोईं में देख वृन्दावन आश्चर्य से ताकता हुआ जहाँ का तहाँ खड़ा रह गया। पंडितजी उसके मनोभावों को समझ गये। पास बुलाकर बैठाते हुए बोले—

"आश्चर्य न करो। मैं मनुष्य को मनुष्य समझता हूं, पशु नहीं। तुम्हारी बेटी मनुष्य की बेटी है, सुशील है, साफ सुथरी है और रसोई बनाने में अद्वितीय है। क्या तुमने इसे भोजन बनाना सिखाया था ?"

"नहीं तो............"

"पर यह भोजन अच्छा बना लेती है।"

वृन्दावन मनही मन फूल उठा, बोला–"परमात्मा और आप की कृपा से ही इसमें सब गुण आ गये हैं।"

"अच्छा, यह बताओ कैसे आना हुआ ?" हाथ धोते हुए पंडितजी ने पूछा।"

"बासन्ती को ढूंढ़ते २ यहाँ चला आया। मना किया था कि घर से न निकलना, पर इसने नहीं माना। आप का प्रेम इसे घर में बन्द नहीं रख सकता।"

'प्रेम–प्रेम को खींचता है वृन्दावन ! मैं इसपर अपना सारा वात्सल्य–प्रेम लुटा चुका हूँ, फिर कोई कारण नहीं कि वह मुझे प्यार न करे। आज तो इसने बड़ा ही अनर्थ ढा दिया था।"

"वह क्या" आश्चर्य और विस्फारित नेत्रों से उसने पूछा।

"गंगा में कूद पड़ी थी। मैं न पहुँच जाता तो तुम उसे खो चुके थे।"

"क्यों इसने ऐसा किया ?" और भी कौतुहल ग्रस्त हो उसने पूछा।"

वृन्दावन को अधिक संशय में न घुमाकर उन्होंने सारी घटना ज्यों की त्यों बता दी। वृन्दावन पंडितजी के उपकार से दब—सा गया। उसने उनके चरणों पर माथा टेक दिया।

पंडित जी ने उसे प्यार से उठाते हुए कहा "अब बासन्ती के लिये क्या सोचते हो ? उसकी रक्षा का भार किस प्रकार उठाओगे ?"

"मैं तो पागल-सा हो गया हूँ पंडितजी ! अब आपही पर उसकी रक्षा—उसका सतीत्व—निर्भर है।"

"मैंने तो यहाँ से जाने का निश्चय कर लिया था परन्तु देखता हूँ, अब न जा सकूँगा। मुझे इसकी रक्षा करनी ही होगी। देखो ! जमींदार का कोई आदमी भी आवे तो उससे यह न बताना कि बासन्ती कहां है। उनसे कहना वह न मालूम कहाँ बिना मुझसे कहे सुने चली गयी है।"

"पर जमींदार के आदमी बिना पता लगाये चुप बैठने वाले नहीं। और जब आप जमींदार के दो आदमियों को घायल कर चुके हैं तो वे जाकर खबर देंगे ही, ऐसी हालत में क्या वे आप को निरापद रहने देंगे ?"

मैंने जो कुछ कहा है, उसका तुम केवल पालन करो। भवि-ष्य की चिन्ता मुझे है। मैं समझ लूँगा। तुमको चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं।"

वृन्दावन चला गया। घर पर पहुँचते ही उसने देखा द्वार पर जमींदार के दो प्यादे यमदूत के समान खड़े हैं। उन्होंने जमींदार की आज्ञा सुनाई। उसने निर्भीकता पूर्वक कहा—"बा-सन्ती से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। वह कल से लापता है। जाकर कह देना कि मैं उसके लिये स्वयं चिन्तित हूँ। उन्हें बासन्ती चाहिये तो वे ढूंढ़ लें। पर मुझे तंग न करें।"

"बहाना करने से तुम बच नहीं सकते। जमींदार ने हमें

सब अधिकार देकर भेजा है। तुम यदि सीधे से नहीं बताओगे तो हम घर की तलाशी लेगें।"

"जीवित रहते ऐसा नहीं होने दूँगा। निम्नश्रेणी का हूँ तो क्या हमारी इज्जत नहीं? जब चाहे चोर लुटेरे घुस जावें। आंखों के सामने सब लुटते देख लूँ, यह नहीं होगा।"

"वृन्दावन, होश में हो या नहीं। किससे लड़ने जा रहे हो, इसके पहले अपनी शक्ति का अन्दाजा कर लेना चाहिए। तुम जमींदार से पार न पा सकोगे। वह तुम्हें पद दलित कर तुम्हें कहीं का न रहने देगें। तलाशी दे देने में हानि ही क्या है। बासन्ती नहीं होगी, तो हम जाकर यह सन्देश उनतक कह देंगे।"

"चोर को रास्ता देकर, फिर उसे चुपचाप चले जाने देने में क्या कुछ बचेगा?"

इस 'चोर' शब्द ने उन दोनों को उत्तेजित कर दिया। उन्होंने वृन्दावन को धक्का देकर अलग करना चाहा, पर उसमें आत्म शक्ति थी। ऐसा जोर का घूसा उसने एक के मुंह पर जमाया कि वह चक्कर खाकैर गिरते २ बचा। दूसरा वृन्दावन की शक्ति का अनुमान लगा कर भागा—पहला भी नहीं रुका।

चित्रा इस कहासुनी होने तक वहां आ पहुँची थी। पति को जमींदार के प्यादे को घूसा जमाते देख वह भावी डर से

कांप उठी। उनके भाग जाने के बाद उसने कम्पित स्वर में कहा—

"क्या यह जो तुमने किया, अपनी समझ से अच्छा किया ?"

"जरूर।"

"पर तुम अपने को बचाये रख सकोगे ?"

"नहीं।"

"तो फिर ऐसा दुस्साहस क्यों किया ?"

"तो तुम चाहती हो कि मैं अपनी इज्जत जमींदार के हाथों बेचकर स्त्रैण बन जाऊं। चूड़ियां पहन कर घर में बैठ जाऊं। पुत्री का सतीत्व लुटते अपनी आंखों देखकर भी मौन रहूँ। वृन्दावन इतना नहीं गिर गया है।"

"यदि जमींदार तुम्हारी जमीन जायदाद सब छीन लेगा तो तुम क्या करोगे ?"

"अपंग नहीं हो गया हूँ। जहां मजदूरी करूंगा, खाने भर को पैसे मिल जायंगे। यदि नहीं मिलेगा तो भीख माँगूंगा—यह भी न मिलेगा तो—मृत्यु तो अवश्य ही मिल जायगी।"

"पर मेरा क्या होगा ?"

"तुम अपने जीवन के भार को लेकर जीवन से युद्ध करना—घर में अशान्ति फैला कर तुम शान्ति क्यों चाहती हो ? शान्ति उसी को मिलती है जो शान्त रहना जानता है।

बासन्ती के प्रति जो अत्याचार तुमने किये हैं, वह तो भोगना ही होगा। तुम्हें भी—मुझे भी। तुम्हारे कारण वह वृद्ध से व्याही गई—तुम्हारे ही कारण विधवा भी हुई। यहीं से विपत्ति का श्रीगणेश हुआ। अब पूछती हो मेरा क्या होगा? मैं तो दम में दम रहते बासन्ती को बचाऊंगा। यदि मर गया तो दूसरी शादी कर लेना।"

"क्या कहते हो तुम?" और सिसक सिसक कर वह रोने लगी।

"ठीक कहता हूँ। तुम जैसी स्त्री के लिए कोई बात असम्भव नहीं। रोना और लड़ना यही दो अस्त्र तुम्हारे पास थे, जो अब मुझपर प्रयोग होते २ भोथरे हो गये हैं। उसमें अब कोई तीक्ष्णता नहीं रही। मैं अन्तिम बार कहता हूँ कि अब भी समय है, यदि आंख रहते सम्हल जाओ।" इतना कहकर वृन्दाबन जैसे आया था, उसी तरह लौट गया। घर में गया तक नहीं। जावे किस आशा से। जब बासन्ती ही नहीं तो अब रहा कौन? किसके मीठे वचन सुनने के लिए घर में जाता? वह तो अब नहीं थी।

चित्रा रोते २ चिल्ला पड़ी—"रुको—सुनते जाओ"

पर वृन्दाबन ने घूमकर देखा तक नहीं।

१४

पाठक पढ़ चुके हैं कि सुरेन्द्रसिंह घर न जा, बगल के गांव में रहकर रणजीत के दैनिक कार्यक्रम पर दृष्टि रख रहे थे। सप्ताह के भीतर ही उन्होंने रणजीत के विषय में कई बातें ऐसी सुनी जिस से उनके हृदय पर चोट लगी। वह बहकने न पावे, इसलिये वे सतर्क थे, परन्तु एकाएक उन्हें बाहर चला जाना पड़ा।

अभय की ननिहाल इस गांव से १० मील दूर पहाड़पुर गांव में थी। यदाकदा वह वहां आया जाया करता था। अभी २ वह वहां से लौटा था। सुरेन्द्रसिंह का संदेशवाहक,

अन्तरंग और कृपापात्र होने के कारण वह सीधे सुरेन्द्रसिंह से मिलने गया। उसे समय से पहले आया देख, उन्होंने पूछा—

"क्यों जल्दी लौट आये? तुमने तो दो सप्ताह की छुट्टी ली थी? सब कुशल तो है।"

"आप की कृपा से जीवित लौटा हूँ।"

"क्या हो गया था तुम्हें।" साश्चर्य सुरेन्द्रसिंह ने पूछा।

"नानी के यहां गये दो दिन भी नहीं हुए थे कि मुझे विशूचिका ने ग्रस लिया। धीरे २ गांव भर में फैल गया। पर एक सन्यासिनी की सेवा-सुश्रुषा और औषधोपचार से गांव की अधिक हानि नहीं हुई। दो चार ही काल—कवलित हुए, शेष सब बच गये।"

सन्यासिनो का नाम सुनते ही सुरेन्द्रसिंह का माथा ठनका। हृदय में उठती हुई उत्सुकता के समाधान के लिये उन्होंने शीघ्रता से पूछा—

"कौन हैं ये सन्यासिनो?"

लोगों से पूछने पर केवल यही मालूम हुआ कि वे अपना नाम ग्राम किसी को नहीं बतातीं। एक सेवाश्रम उन्होंने गांव के बाहर खोल रखा है। उसमें कई विधवायें हैं, जिनके भरण पोषण के लिये उन्होंने कई विभाग भी खोल रखे हैं। मैंने आखों से देखा, कितनी ही स्त्रियां चर्खा कात रही थीं—कितनी कपड़ा बुनने में संलग्न थीं—कितनी मिट्टी के खिलौने,

बेल बूटे आदि बना रही थीं। ग्रामीणों की आवश्यकता पूर्ति उसी आश्रम से हो जाती है। किसी वस्तु के लिये उन्हें दूसरों का मुंह ताकने की जरूरत नहीं पड़ती। एक ओर रसोई घर में दो औरतों को सफाई और स्वच्छता से भोजन बनाते भी देखा—कहने का मतलब यह कि वहां की सुव्यवस्था अपने ढंग की निराली है। देखकर तबियत प्रसन्न हो जाती है। बाबूजी! उनके चेहरे पर ऐसी दिव्य ज्योति नर्तन करती है कि हठात् चरणों पर झुक जाने को मन ढकेल देता है। वाणी में मिठास इतनी है कि एक बार उनके सम्पर्क में आ जाने पर भूल जाना असम्भव है। किसी के कष्ट पर वे अपने आप को भूलकर उसके कष्ट में मिल जाती हैं। ७-८ कोस के लोग तो इनसे इतने प्रभावित हैं कि उनके संकेतमात्र पर अपने को उत्सर्ग कर देने में पीछे नहीं हटेंगे। भेंट इतनी आती है कि आश्रम का खर्च बिना किसी कठिनाई और बिना कोई काम किये चल जाय, पर वे मधुर-मुस्कान और मीठे वचनों से उसे ग्रहण कर उन्हीं के सामने दरिद्रों में बांट देती हैं। दरिद्रों का छोटा-मोटा झुण्ड जैसे आश्रम को घेरे रहता है। क्या कहूँ बाबूजी, स्त्रीरूप में वे कोई स्वर्ग की देवी हैं।"

"क्या तुम उनको हुलिया बता सकते हो?"

"हां हां! उनकी आकृति तो आंखों में नाच रही है। लम्बा कद, गौर वर्ण, बड़ी २ आंखें और छरहरा बदन है उनका।

ललाट पर एक चोट की हलकी-सी रेखा है जो उनके चेहरे पर, बादल में बिजली की तरह चमकती है। ठोढ़ी पर एक छोटा सा तिल है।"

तिल का निशान उनकी आंखोंके सामने नाच गया और वह ललाट की रेखा भी, जो शीघ्रता में भागते समय, उन्हें किसी चीज से खरोंच लग गयी थी। स्वयं उन्होंने पट्टी बांधी थी और उसी अवस्था में विदा किया था। एकाएक उनकी मुखकृति पर परिवर्तन हुआ। वे प्रसन्नता में उछल पड़े। अभय की पीठपर जोर की थपकी दी। अभय उनके इस आकस्मिक परिवर्तन पर मुंह बाये उनकी ओर ताकता रह गया।

"क्या ताक रहा है मेरी ओर ? जा घर जा। मां से कह आ कि नानी के यहां फिर जा रहा हूँ।"

"पर बात क्या है बाबू जी ?" साश्चर्य अभय ने पूछा।

"मैं उस देवी से मिलना चाहता हूँ और चाहता हूँ कि एक क्षण का भी विलम्ब न हो—जा, जा जल्दी जा।"

सुरेन्द्रसिंह की इस जल्दबाजी ने उसे असंख्य विचारों के झूले पर झुला दिया।

इस देवी से इनका क्या सम्बन्ध ? हुलिया सुनते ही इतने अधीर क्यों हो गये ? इनकी कोई सम्बन्धी तो नहीं ? यदि सम्बन्धी है तो सन्यासिनी हो जाने का कारण ? इन्हीं विचारों पर पेंग मारता हुआ वह मां के पास पहुँचा। बोला, "नानी के यहां जा रहा हूँ।"

"अभी तो आया है, फिर जाने का कारण?" माँ ने आश्चर्य चकित हो पूछा।

"क्या जानूं ? उस सन्यासिनी की बात सुनकर उनमें ऐसा परिवर्तन हुआ कि वे अभी तुरन्त वहां जाकर उनसे मिलने को तैयार हो गये। अब तो उनकी आज्ञा का पालन करना ही होगा।"

"जरूर—मालिक जो ठहरे। और नानी का घर भी तो तुम्हारा ही घर है। वहां भी तो उनके लिए तुम्हीं हो। जाओ-खुशी से जाओ।"

अभय जिस समय लौटा, उस समय तक सुरेन्द्रसिंह आवश्यक सामानादि बैलगाड़ी पर लदवा कर तैयार हो चुके थे। अभय के पहुँचते ही दोनों गाड़ी पर जा बैठे। गाड़ी चल दी।

पहाड़पुर गांव की जनसंख्या लगभग ५०० की है। छोटा-सा थाना और एक पोष्ट आफिस भी है—एक मिडिल स्कूल प्रायः १० साल से चल रहा है जिसमें विभिन्न जाति के लड़के पढ़ा करते हैं। इसी मिडिल स्कूल के बगल में अनाथालय है जिसकी संचालिका एक अज्ञात सन्यासिनी हैं। आज शहर से एक कांग्रेसी प्रतिष्ठित नागरिक आश्रम के अवलोकनार्थ पधारे हुए हैं। सन्यासिनी ने इन्हें विशेष आमन्त्रण देकर बुलाया था। आश्रम की सुव्यवस्था और वहां के सेवा

कार्य ने उनको इतना प्रभावित किया कि उन्होंने इसमें एक कलाभवन बनाने के लिए २०००)दान देने की घोषणा कर दी। इसी समय गांव की एक वृद्धा ने आकर जोरों से रोना शुरू कर दिया। रोने के करुण स्वर ने सबों को उधर आकर्षित कर लिया। सन्यासिनी उधर दौड़ीं। वृद्धा से करुण-विलाप का कारण पूछा। उसने रोते ही रोते कहा—"देवी मुझे एक ही लड़का है। वह एक सप्ताह से बीमार है। आज उसकी अवस्था चिन्ताजनक हो गयी है। आप ही का आसरा है। आप के स्पर्शमात्र से वह अच्छा हो जायगा, ऐसा मेरा विश्वास है।"

आगन्तुक कांग्रेसी सज्जन वृद्धा के इस विश्वास और देवी के इस चमत्कारिक देन पर आश्चर्यचकित-से हो गये। उन्होंने उनकी मुखाकृति पर गवेषणापूर्ण दृष्टि डाली, जैसे उस देवी की मुखाकृति पर से सब कुछ पढ़ लेना चाहते हों। उन्हें भी कुछ ऐसे ही चमत्कार का अनुभव हुआ। उन्होंने देवी को श्रद्धा से नमस्कार किया और जाने की अनुमति मांगी। देवी ने उनसे एकाध रोज ठहरने का आग्रह किया, पर उनके कार्य में बाधक न होने का संकल्प कर उन्होंने कहा—

"देवी! मुझे कई आवश्यक कार्य करने हैं। फिर कभी आऊँगा तो ठहरूंगा और कुछ उपयोगी बातें आप से सुनूंगा। अभी आज्ञा चाहता हूं।"

इतने में वृद्धा पुनः चिल्ला पड़ी—"जल्दी करें, नहीं तो शायद मेरा लड़का नहीं बचेगा।"

कांग्रेसी सज्जन को बिना सत्कारपूर्वक विदा किये देवी वृद्धा के साथ चल पड़ी। घर पहुँचकर देखा लड़का आँखें बन्द किए पड़ा है। कुछ मन-ही-मन बड़बड़ा रहा है। बीमारी क्या है, यह समझने में उन्हें देर न लगी। उन्होंने प्यार से लड़के पर हाथ फेरा और वृद्धा से एक देहाती जड़ी लाकर पिलाने को कहा—

औषधि और पथ्य का क्रम बताकर वे आश्रम की ओर लौटीं।

अभी फाटक दूर ही था, कि उन्होंने देखा एक बैलगाड़ी फाटक पर खड़ी है और उसपर से दो आदमी उतरकर आश्रम में जाने की तैयारी कर रहे हैं। उन्हें आश्चर्य हुआ, कौन इस तरह बैलगाड़ी पर आ सकता है? मस्तिष्क पर अधिक जोर देने पर भी उनके ध्यान में कुछ नहीं आया और वह स्वयं भी फाटक पर आ पहुँची।

आनेवाले दोनों व्यक्तियोंने सन्यासिनी को देखते ही भूमिष्ठ हो नमस्कार किया।

सन्यासिनी की दृष्टि जब आये हुए व्यक्ति पर पड़ी तो एक क्षण के लिए वे दो पग पीछे हट गयीं। परन्तु दूसरे ही क्षण उनका हृदय प्रसन्नता से नाच उठा। क्यों न नाच उठता?

जिस व्यक्ति की सहायता से उनके सतीत्व की रक्षा हुई—जिसकी असीम कृपा से वे भाग सकीं—जिसने अपने जीने मरने की माया छोड़ कर उनका भविष्य उज्वल बनाया, उसे देख प्रसन्न न होना कृतघ्नता ही तो होती। उन्होंने अपनी सहकारिणी को बुलाकर उनको अतिथिगृह में ठहराने का आदेश दिया।

आज रसोई घर में जिसकी पारी थी, उसे सन्यासिनीने आज के लिए छुट्टी दे दी। स्वयं चौके में जाकर बड़े प्रेम से नाना प्रकार के भोज्य-पदार्थ तैयार किए। स्वयं जाकर आगंतुकों को बुला लाईं। आसन बिछाया—पानी रखा और स्वयं परोस कर खिलाने लगीं।

"आपको मेरे यहाँ होने की खबर कैसे मिली?" सन्यासिनी ने सुरेन्द्रसिंह से पूछा।

"इस लड़के द्वारा" अभय की ओर संकेत कर उन्होंने कहा—"इसका ननिहाल यहीं है। इसे आप एक बार मृत्युमुख से बचा चुकी हैं।"

अभय को गाड़ी की थकान से काफी भूख लगी हुई थी, वह इतनी जल्दी २ कौर उठा रहा था मानो हाथ मुंह का वियोग हो ही नहीं रहा है। सुरेन्द्रसिंह जोरों से हंस पड़े। सन्यासिनी भी मुस्करा पड़ी। अभय लज्जित-सा हो गया।

"मैं आपके दर्शन से कृतकृत्य हुई। बहुत दिनों से आपके दर्शन की लालसा आज पूर्ण हुई।"

"क्या कहती हैं आप ? मैं तो स्वयं देवी का दर्शन कर अपने पूर्व पापों के प्रायश्चित के निमित्त उपस्थित हुआ हूँ, और आप मुझपर यह एक भार लादकर मुझे और दबा देना चाहती हैं।"

"अच्छा ! जाने दीजिये इस झगड़े को। यह बतायें कि और सब तो कुशल है।"

"आपकी कृपा से सब तो ठीक है, पर रणजीत को देखता हूं, पिता के आचरण की ओर ही झुकता चला जा रहा है।"

"आप ने उसे उचित मार्ग दिखलाने का कोई प्रयत्न नहीं किया ?"

"मैं तो छाया की तरह उसके पीछे लगा रहता हूँ, तभी तो अब तक सीधा खड़ा है, वरना कभी का गिर चुका होता। फिर भी मुझे डर है कि कहीं वह उच्छृङ्खल न हो जाय।"

"अच्छा आज एक पत्र उसे लिखिये। और उसमें मेरा जिक्र कर सावधान कर दें कि यदि उसने अपना मार्ग नहीं सुधारा तो शीघ्र ही मैं उसपर कड़ी कार्यवाही करूँगी।"

बातों ही बातों में भोजन समाप्त हो गया। सन्यासिनी अपने अन्य कार्यों में जुट गई और सुरेन्द्रसिंह अभय के साथ अतिथिगृह में जाकर विश्राम करने लगे। थोड़ा विश्राम कर लेने पर सुरेन्द्रसिंह ने कलम दावात उठाया और रणजीत के नाम पत्र लिखा—

बेटा रणजीत !

मैं कई कारणों से पहाड़पुर आया हुआ हूँ। यहीं से यह पत्र लिख रहा हूँ। मैं कुशलपूर्वक हूँ, तुम्हारा कुशल सर्वशक्तिमान परमात्मा से चाहता हूँ। तुम्हारी अनुपस्थिति में भी मैं तुम्हें अपने बहुत निकट देखता हूँ। मेरा तुम पर आन्तरिक स्नेह है। इस नाते मुझे कुछ हित की बातें बताना ही चाहिये। मैं जब तुम्हारे साथ था तो तुम्हारी कुछ असंगत बातें, मैंने औरों से सुनी, जिससे मुझे बड़ा दुख हुआ। वहां के पंडित महाशय को, सुना है तुम कष्ट पहुँचाने का प्रयत्न कर रहे हो। पर पंडितजी से बैर का अनुष्ठान तुम्हारे लिए कष्टकर होगा। तुम उनसे विमुख रहकर सुखी नहीं रह सकोगे। उनका व्यक्तित्व महान है। मैंने उन्हें वहां से चलते २ पहचाना है। यद्यपि उन्होंने मुझसे अपरिचितों-सा व्यवहार किया है, पर मुझे पूर्ण विश्वास है कि मेरी आंखें मुझे धोखा नहीं दे सकतीं। मैंने उन्हें ठीक २ पहचाना है। वे उच्च कुल के प्रतिष्ठित और विद्वान व्यक्ति हैं। दूसरी एक बात और कह देता हूँ—गांठ बांध लो कि अगर तुम अपने आचरण को नहीं सुधारोगे तो तुम्हारे पिता द्वारा दी गयी चिट्ठी का अन्तिम अंश शीघ्र ही सत्य होकर रहेगा। कामिनी देवी से मुझसे भेंट हुई है। उन्होंने सिर्फ चेतावनी दी है। चेतावनी देकर ही वह कोई कार्य करती हैं।

इसलिए अपने वर्तमान-भविष्य को न भूलो। यही मैं चाहता हूँ—

शुभ कामना के साथ—

तुम्हारा चाचा

'सुरेन्द्र'

१५

पत्र इधर उधर किसी दूसरे के हाथ में न पहुँच जाय, इस विचार से सुरेन्द्रसिंह ने पत्र अभय के हाथ भेजा। पत्र उसने रणजीतसिंह के हाथों में दिया और पत्र पढ़ते २ उनकी मुख मुद्रा पर होने वाले परिवर्तनको जानने की अभिलाषा से, उसने अपनी आँखें उनपर गड़ा दीं।

रणजीतसिंह ने पत्र बड़ी उत्सुकता से खोला और पढ़ने लगा। उसकी मुखाकृति क्षण-क्षण पर अदल-बदल रही थी। भृकुटि पर रह रहकर बल आ जाते। बीच २ में पत्रवाहक की ओर दृष्टि फेंक, पुनः पढ़ने में तल्लीन हो जाता। पत्र के अंतिम

अंश पर दृष्टि पड़ते ही उसकी आत्मा सिहर उठी। हाथों में थोड़ा कम्पन हो आया। पत्र समाप्त करते करते, वह घबड़ाया-सा अभय को मालूम पड़ा। अभय ने निष्कर्ष निकाल लिया कि अवश्य पत्र में कुछ कड़ी बातें हैं।

"यह पत्र तुम्हें चाचा ने कहां पर दिया?' एकाएक विस्फारित नेत्र और आश्चर्य मुद्रा में उसने प्रश्न किया।

अभय भी एक चलता-पुर्जा था। उसने यह समझ लिया कि ठीक स्थान बता देना अहितकर होगा। अतः उसने दृढ़ता से उत्तर दिया "मैं अपनी नानी के यहाँ से लौट रहा था। वे कहीं जा रहे थे। रास्ते में मिले और यह पत्र आपतक पहुँचा देने के लिये कहा और मैंने पालन किया।

"उनके साथ कोई स्त्री थी?"

"नहीं—वे अकेले थे। एक नौकर अवश्य उनके साथ में था।"

"तुम यहीं के रहने वाले हो न।"

"हां सरकार!"

"तुमने तो मेरे विरुद्ध कोई शिकायत नहीं की?"

"मैंने!......सरकार मुझे अपनी जान प्यारी है। आप की शिकायत कर उसकी रक्षा कैसे कर सकता हूँ? फिर आप में बुराई ही कौन है; जो बुराई करूँगा।"

"अच्छा! जा सकते हो।" कहकर सुरेन्द्रसिंह ने सन्तोष की सांस ली, पर चिन्ता उसके चारो ओर घूमकर उसे जैसे

निगले जा रही थी। उसकी इस आकस्मिक चिन्ता का कारण, उसके चाटुकारों के लिये एक कौतुहल का विषय हो गया। वे अपने कौतुहल के समाधान के लिये व्यग्र हो उठे। उनमें से एक चाटुकार ने नम्र स्वर में पूछा:—

"सरकार की चिन्ता का कारण क्या मैं जान सकता हूँ ?"

"कारण जानने की कौतुहलता प्रकट न करो। यह निजी पत्र है और गुप्त। इसलिये मैं कहूँ, उसी प्रकार कार्य होना चाहिये—बिलकुल गुप्त। जड़ भी न जान सके, इस तरह हमारा काम होना चाहिये।"

"कहिये! कहिये! अक्षरशः आज्ञाका पालन होगा।"

"यही कि बासन्ती को पाने के लिये कोई भी जबरदस्ती किसी के साथ न हो। वह मिल जाय और कोई उत्पात न खड़ा हो, ऐसा उपाय सोच निकालो।"

"पर पंडित महाशय के होते, कुछ नहीं हो सकता। वह तो उन्हीं के आश्रय में है।"

"ऐसी उक्ति ढूँढो कि वे यहां से स्वयमेव चले जायँ।"

"यह तो असम्भव बात है ?"

"मूर्ख हो तुम लोग—बुद्धि जैसे कहीं धरोहर रख आये हो। मैं उन्हें अवश्य यहां से जाने के लिये मजबूर करूँगा।"

"वह कैसे ?" आश्चर्यान्वित स्वर में एक चाटुकार ने पूछा।

"देखो। चाचाजी मुझे उपकार की सर्वदा सीख दिया करते हैं। मैं उपकार का कार्य करूँगा। मतलब यह कि एक हाई स्कूल खोलूँगा, जिसमें बिना फीस के हर प्रकार की तालीम दी जावेगी। मैं अपनी इच्छानुसार चुने हुए शिक्षक रखूँगा। उन्हें कोई स्थान नहीं दूँगा—फिर स्वयं ही चले जायँगे।"

"पर इस कार्य में बहुत व्यय होगा ?"

"कोई परवाह नहीं। उपकार होगा, चाचा जी प्रसन्न होंगे और बासन्ती अनायास ही मिल जायगी।"

यद्यपि रणजीतसिंह ने बासन्ती के पाने के लिये बहुत लम्बी और खर्चीली योजना बनाई, पर उसे इसमें शान्ति थी। सारी जायदाद देकर भी, यदि वह मिल जाती, तो वह देने में न हिचकता। पर उसके चाटुकार, उसकी इस योजना पर एक दूसरे का मुँह ताकते रह गये। उन्हें ऐसा लगा जैसे रणजीतका मस्तिष्क कुछ कुछ घूम गया है। इतनी धनराशि और उपकार की आड़ में यह शिकार उनको अच्छा न लगा, पर करते क्या ? विरुद्ध सम्मति देने का उन्हें अधिकार क्या था ? उन्हें तो उनको उल्लू बनाये रखने में ही अपना हित-साधन था। हां में हां ही उनके मार्ग को प्रशस्त करने वाला था—जिसमें धन-रूप और मान अनायास ही मिलता है।

"तो फिर इस कार्य का श्रीगणेश कब से होगा ?" दूसरे ने पूछा।

"कल से ही। तुमपर यह भार सौंपता हूँ। मकान बनवाने का कार्य आरम्भ हो जाना चाहिये।" और उन्होंने तुरन्त ५०००) रुपये निकाल कर उसके सामने गिन दिये।
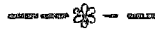
१६

चित्रा को रोते कलपते छोड़ वृन्दावन लौटकर फिर घर नहीं गया। गांव में एक कोठरी अलग लेकर रहने लगा। वह चित्रा के कलह से काफी ऊब चुका था—छुटकारे का और कोई उपाय न था। उधर जमींदार के निरन्तर उत्पीड़न से उसका शरीर अपने को बचाते बचाते कमजोर हो गया। न समय से खाना मिलता, न समय से भोजन; परिणाम यह हुआ कि कमजोरी दिन पर दिन बढ़ती गयी और धीरे २ खाट पकड़ लिया। इस समय उसकी देख भाल के लिये बासन्ती को छोड़ और कोई नहीं था। अतः पिता के सेवा का भार उसीको लेना पड़ा।

चित्रा तो इस घमण्ड में थी कि वह तिरस्कारपूर्वक मुझे छोड़ गये हैं तो मैं क्यों मनाने जाऊँ। गरज होगी आवेंगे और इस मिथ्याभिमान में वह अपने पतीव्रत को भी भूल गयी।

बासन्ती पहले तो दिन में दो चार बार आकर दवा आदि दे, पथ्य बनाकर खिला जाया करती। पर बीमारी को बढ़ती देख, वह उन्हीं के पास चली आयी।

जब चित्रा को यह मालूम हुआ कि बासन्ती पति की सेवा के लिये उनके पास जाकर रह रही है तो वह ईर्ष्या से जल उठी। वह चाहती थी कि पति अकेले रहेगें तो घबड़ा कर अवश्य एक न एक दिन बुलायेगें, पर बासन्ती के जाने के समाचार ने उसकी टिमटिमाती हुई आशा को एक फूँक में ही बुझा डाला। वह क्रोधावेश में वहां जा धमकी। पति का हाल चाल तो पूछना दूर रहा—उगल पड़ी बासन्ती पर। अब तक का संचित सैकड़ों गालियों की गाँठ उसने निमेशमात्र में खोल डाली। उनको लुटाकर खाली हाथ हो जानेपर भी वह स्थिर न रही—पैर का एक भरपूर प्रहार बासन्ती पर किया। पद-प्रहार बासन्ती के पीठपर हुआ। वह औंधे मुँह गिरी। संयोगवश मुँहपर चोट नहीं लगी—सर में लगी जिससे रक्त की धारा बह निकली। वृन्दावन पत्नी के इस काली करतूत को न सह सका। अशक्त था, उठ नहीं सकता था। पास में पड़ी हुई एक लकड़ी को उठाकर

ज़ोर से चित्रा की ओर फेंका। लकड़ी निशाने पर जा बैठी। उसका सर फट गया और बेहोश होकर गिर पड़ी।

वासन्ती को माता की इस चोट ने द्रवीभूत कर दिया। वह अपने रक्तप्रवाह और दर्द को भूलकर मां की सेवा में लग गयी। सर धोकर कपड़े की एक गिली पट्टी बाँध दी और एक कथरी बिछाकर उसपर सुला दिया।

जब उसे होश आया तो सारी घटना उसके आगे नाच गयी। पर वह इतनी अशक्त थी कि न कुछ बोल सकी, न वह सकी।

दूसरे दिन प्रातःकाल जब वासन्ती उठी तो देखा चित्रा नहीं है। अवरुद्ध कण्ठ से पिता से कहा—"माँ तो कहीं चली गयी।"

"जानता हूँ। मैं उस समय जाग रहा था।"

"फिर आपने मुझे क्यों नहीं जगाया? मैं रोकती उन्हें।"

"ऐसी स्त्री को चला जाना ही जिन्दगी है बेटी! वह रहती तो शायद मुझे कल मरना होता तो आज ही मर जाता। ऐसी स्त्री का कहीं ठिकाना नहीं लगेगा—वह अपने भाई के यहाँ छोड़ और कहीं नहीं जा सकती।"

"पर मां को इस तरह जाने देना अच्छा नहीं हुआ पिताजी।"

"बेटी ! तू तो देवी है देवी ! तू किसी के अच्छे या बुरे व्यवहार को जैसे मन में स्थान ही नहीं देती। बहुत जल्दी भूल जाती है अपने ऊपर किए गये अत्याचारों को। वह मां होने लायक नहीं। वह तो उस सर्पिणी के समान है, जो भूख लगने पर अपनी ही संतान को खा डालती है। बहुत दिन हुए कहती थी कि जमीन जायदाद मेरे नाम क्यों नहीं लिख देते ? बताओ भला यह क्या संकेत करता है। यही न कि उसे मेरी जिन्दगी पर शक है। मेरी मृत्यु की बात वह जीवनकाल में ही सोचती है। क्या यही सती और साध्वी स्त्रियों के लक्षण हैं। साध्वी स्त्री को धन की कामना नहीं—पति के जीवन की कामना होती है और उस कामना के आगे वह धन को भूल जाती है। मैं तो उस समय अंधा था—लिखने पर तैयार हो गया था, पर आंखों में एकाएक तेरी मृत मां की ज्योति चमक उठी और मैंने निश्चय बदल दिया।"

"पर उनके नाम लिख देने में हानि ही क्या थी ?"

"बेटी ! तुझमें अभी बहुत लड़कपन का अंश है। तू तो जैसे विरागी है—तुझे जैसे इन सब बातों से कोई सम्पर्क ही नहीं, पर मुझे है। मैं कैसे चाहूँगा कि मेरी बेटी, मेरी मृत्यु के पश्चात् दो दाने अन्न के लिए दूसरों का मुंह देखती रहे।"

"पिताजी ! आप इतनी दूर जाकर क्यों भूलने का प्रयत्न कर रहे हैं कि मां आपकी विवाहिता पत्नी हैं। उनका भी कुछ

अधिकार है—उनके भविष्य को बदले की भावना से ढँककर अपने को गिरने न दें। आप उन्हें बुलाइये और सब उनके नाम लिख दें। मैं उनके हाथों से पाव भर आटा पाकर ही खुश रहूँगी। उनका अत्याचार सह लूंगी, पर यह उनके प्रति आपका अत्याचार न सह सकूंगी...."

"बेटी !...." यह आवाज वृन्दावन के मुंह से जोर से निकली और उसने थोड़ी देर के लिए आंखें बंद कर लीं।

इसी समय पंडितजी ने ग्रामीण वैद्य के साथ घर में प्रवेश किया। बासन्ती ने दो चटाइयां बिछा दीं। वैद्यजी ने वृन्दावन की नाड़ी देखी और पंडितजी के कान में कुछ कहा। पंडित जी ने कुछ उत्तर न देकर दवा देने का संकेत किया। दवा देने के थोड़ी देर बाद वृन्दावन की आंखें खुलीं। पंडितजी और वैद्य जी को देख उसने उठने की चेष्टा की पर उठ न सका। लेटे ही लेटे दोनों हाथ जोड़ दिये। दोनों ने आशीर्वाद दिया।

"मैं कुछ कहना चाहता हूँ गुरुदेव।" क्षीण स्वर में वृन्दावन ने कहा।

"कहो ! कहो ! क्या कहना चाहते हो ?"

"मैं अब बच न सकूँगा।"

"कैसी बात कहते हो तुम।"

"सच कहता हूँ पंडित जी। झूठी सान्त्वना देकर बचाना असम्भव है गुरुदेव ! जो मैं कहता हूँ उसे सुनिये।"

"कहो।"

"मैं अपनी सारी सम्पत्ति बासन्ती के नाम कराना चाहता हूँ और यह आपत्ति करती है। कहती है बिमाता के नाम लिखने को। भला यह कैसे कर सकता हूँ मैं।"

पंडितजी बासन्ती की ओर घूम पड़े। बोले—"क्या कह रहे हैं तेरे पिता? क्यों नहीं उनके मन की हो जाने देती?"

"पर बिमाता की उपेक्षा करना भी तो उचित नहीं।" अंगूठे से जमीन कुरेदती हुई वह बोली।

"ठीक है—पर उपेक्षा न हो ऐसी तरकीब मैं बता दूँ तो।"

"तो मुझे स्वीकार है।"

"तरकीब यह है कि जायदाद की रजिस्टरी तेरे नाम होगी। उसमें तेरी माता के सुविधा के लिए उसे १०) मासिक मिलते रहने की बात दर्ज करा दी जायगी।"

"पर मुझे ही दस रुपये मासिक मिले और उन्हें सारी सम्पत्ति तो इसमें क्या हानि है?"

"महान् हानि है! पिता की आत्मा को कष्ट और अन्तिम अशांति। अशांति से मनुष्य का प्राण शीघ्र नहीं निकलता। जो वह उस समय चाहता है, पूर्ण हो जाने पर शान्ति से मरता है—उसे कष्ट नहीं होता—आत्मा इधर उधर न भटक कर शीघ्र दूसरा जन्म ग्रहण कर लेती है। इसलिए पिता की इच्छा का हनन करना उनकी आत्मा के हनन करने के बराबर है।"

बासन्ती आगे कुछ न बोल सकी। पिता की अवस्था पर आंसू बहाती मौन खड़ी रही। पंडितजी ने मसिवदा बनाया और उसपर दो गवाहों का दस्तखत करा, दूसरे दिन उसकी रजिस्टरी करवा दी।"

वृन्दावन को अपार शान्ति मिली। सब कुछ उसके मनका हो जाने पर भी वह अधिक दिन जीवित न रह सका। एक दिन बासन्ती को अकेली रोती कलपती छोड़ वह चल बसा। उसकी आत्मा तो शान्त हो गयी पर बासन्ती की आत्मा अशान्ति के धक्के से जर्जर होने लगी। वह बहुत दुर्बल हो गयी।

पंडित शंकरदत्त उसकी यह अवस्था देख रहे थे। उन्होंने उसे समझाते हुए कहा—"बेटी! दुःखी होकर शरीर को कष्ट देने से तुम्हारे कर्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती। पिता की आत्मा की शान्ति के लिये तुम्हें और बहुत कुछ करना है। और वह है दीन दुखियों की सेवा से आशीर्वाद संग्रह। इसमें तुम्हारा भी कल्याण होगा और तुम्हारे पिता का भी।"

बासन्ती को 'दीन दुःखियों की सेवा' से जैसे राहत मिली। वह अपने में इस कार्य से स्वस्थता का अनुभव करने लगी। धीरे २ समय के साथ २ वह पिता का दुःख भूल गयी। पर एक चिन्ता अब भी सामने खड़ी थी। वह थी जमींदार की।

१८

पांच हजार रुपया स्कूल के भवन-निर्माण के लिये देकर, रणजलीसिंह ने थोड़े दिनों के लिये हट जाना उचित समझा। फलतः वह अपने कलकत्ते वाली कोठी में चला गया। कई कारण-वश उसे दस माह तक वहां रुक जाना पड़ा। भवन बनकर तैयार हो चुका था और अभीतक मालिक के आने की कोई सूचना न पाकर उसके चाटुकार घबड़ा रहे थे। एकाएक एक दिन बिना किसी पूर्व सूचना के वह गांव में आ धमका। ग्रामीण जो अभी तक सुख चैन से रह रहे थे, उसके आने के समाचार से दुःखित हुए। वासन्ती तो भय से कांप उठी। विपत्ति के पुनः

सूत्रपात होने के विचार से, उसका मन अधीर हो उठा। पर वह विपत्तियों से लड़कर अपने को बचाये रखने के लिये कृत संकल्प हो चुकी थी। आनेवाली विपत्तिकी राह देखती हुई वह अपने दैनिक कार्य में पूर्ववत व्यस्त हो गयी।

रणजीत ने आते ही अपने चाटुकारों से जो समाचार पूछा वह बासन्ती का था। भवन निर्माण की बात का तो उसे जैसे ख्याल ही नहीं था। चाटुकारों से यह जानने पर कि वह इस समय अकेली रह रही है, उसके हृदय की सुप्त कलियां खिल उठीं। उसका मन-मयूर नाच उठा। बासन्ती को शीघ्र पा लेने की लालसा बलवती हो उठी। उसने अपने अन्तरंग चाटुकार से कहा—"वह अकेली रहती है। इसकी सूचना तुमने मुझे तुरंत क्यों नहीं दी?"

"स्कूल के भवन-निर्माण में जो फँसा था।"

"ओह! मैं तो भूल ही गया था। क्या तैयार हो गया?"

"जी हां।"

"परन्तु स्कूल के उद्घाटन की अब उतनी आवश्यकता नहीं जितनी बासन्ती को उड़ा लेने की। उसी के पाने के लिये तो यह सुनहला जाल रचा था। वह आ जाय, पहले यही काम करो।"

"परन्तु शंकर पंडित ....?"

"उन्हें खबर ही कैसे होगी?" कार्य समाप्त हो जाने पर

पता लगे तो लगे—पर यह भी कैसे लगेगा, जब सब काम सतर्कता और सावधानी से होगा। यह कार्य इस चालाकी से हो कि एक उड़ती हुई चिड़िया को भी खबर न लगे। उसके अकेली रहने से इस कार्य में कोई कठिनाई नहीं। सरलता ही सरलता है।"

चाटुकार ने स्वीकृति में अपना सर हिला दिया और कार्यपूर्ती के लिये अपने साथियों से परामर्श के हेतु रणजीत से बिदा ले, चला गया। रणजीत भी हवा में महल बनाता हुआ गाव-तकिये का सहारा लेकर मनकी दुनिया में विचरण करने लगा।

× × × ×

"कौन है।" अन्दर से आवाज आई।

"किवाड़ खोलो।"

"पर हो कौन? बिना यह बताये दरवाजा नहीं खुलेगा।" अधिकारपूर्ण स्वर में स्वामिनीने कहा।

"मैं हूँ अभय।"

बासन्ती ने दूसरे ही क्षण साँकल खोल दी। पूछा—

"कैसे आये अभय दादा? तुम्हारी मुखाकृति पर यह मलीनता कैसी? क्या विपत्ति लेकर आये हो? घर में तो सब कुशल है?" एक साथ कई प्रश्न उसने पूछ डाले।

"पर तू क्यों घबड़ा रही है? मैं जब आ गया हूँ तो घबड़ाने

की कोई आवश्यकता नहीं। बात अवश्य चिन्ता की है, पर उसका उचित उपाय न कर घबड़ा जाने से तो अनिष्ट की ही सम्भावना है।"

"बात क्या है? जल्दी बताते क्यों नहीं?" पूर्ववत् घबड़ाहट के स्वर में उसने पूछा।

"आज तेरे लिये महान् संकट का समय है। रणजीत के आदमी आज तेरा बलात् अपहरण करेंगे।"

"कैसे जानी तुमने यह बात?"

"तू नहीं जानेगी। आज तक मैंने तुझे बताया भी तो नहीं। मुझे रणजीत के चाचा बहुत मानते हैं। उन्होंने मुझे गुप्तचर का काम दे रखा है। रणजीत के कार्यों पर दृष्टि रखना ही मेरा मुख्य काम है। इसी की रोटी अब मैं खाता हूँ। मैंने इन लोगों की बातें आड़ में से सुन ली थीं।"

"तो फिर क्या करूं? तुम्हीं बताओ।

"मेरे विचार से तो पंडित जी का आश्रय ही मुक्ति दिला सकता है। उन्हीं की शरण में चलना चाहिए। चल तुझे वहां-तक पहुँचा आऊं।"

बासन्ती तुरंत तैयार होकर अभय के साथ चल पड़ी। जिस समय ये दोनों पंडित जी के मकान पर पहुँचे, उस समय पंडित जी संध्याकालीन पूजा करके उठे थे। चूल्हे में ईंधन डालकर फूं फूं कर रहे थे। लकड़ी गीली होने के कारण

जल नहीं रही थी। धूएँ के बादल से घर जैसे छा गया था और उनकी आंखों को आखों के पानी ने ढँक लिया था, पीछे पद-ध्वनि सुन कर, उन्होंने उलट कर देखा—आँखों को हाथ से मलकर साफ किया। सामने अभय और बासन्ती को अकस्मात् आया देख उन्होंने साश्चर्य पूछा—

"क्यों अभय ? क्या बात है जो इस समय आये हो।"

"क्या कहूँ पंडित जी ? ये हरामखोर बेचारी को सुख चैन से रहने देना नहीं चाहते। आज इन धन-लोलुप कुत्तों ने बासन्ती के अपहरण की ठान रक्खी है। घर पर अकेली थी। इसलिए आपके यहां ले आया हूँ।"

"अच्छा किया। जाओ इसे भीतर कर आओ। रात बढ़ती आ रही है। कब वे दुष्ट आक्रमण कर बैठें कोई ठीक नहीं। और देखो, तुम ऊपर जाकर पहरा दो।"

अभय घर पर जाकर छत के चारों ओर अविराम चक्कर लगाने लगा। खाने पीने के बाद पंडित जी भीतर से सांकल बन्द कर दरवाजे से खाट सटा सो रहे। अभी उनको सोये आध घंटा भी नहीं हुआ था कि बाहर से कर्कश स्वर सुनाई पड़ा। वे अर्धनिद्रित अवस्था में तो थे ही, तुरन्त आवाज दी—"कौन है ?"

"मैं हूँ, तुम्हारा मित्र !'

"मित्र या दुश्मन? मित्र निर्भय होकर आता है—चोर की

तरह नहीं। मैं जान गया हूँ तू कौन है और किस उद्देश—पूर्ति के लिए आया है? भला चाहता है तो चला जा यहां से?"

"ओ हो! देखता हूँ मेंढक को भी जुकाम हो गया है। सीधे से बोलता हूँ तो टेढ़े हुए जा रहे हैं आप। हम गांव के अधिकारियों में से हैं और तुम्हें इसका कठोर दण्ड भुगतना पड़ेगा।"

"चल! चल! धमकी का अस्त्र किसी कमजोर पर छोड़, काम कर जायगा, मुझ पर छोड़ने से तो वह भोथर ही होगा। आत्मिक बल के आगे महान्—शक्ति भी नत हो जाती है तेरी क्या हस्ती है?"

"बड़े दून की हांक रहे हो। इतना ही साहस और गर्व है तो बाहर निकलो। स्त्रियों की भाँति भीतर से शेखी बघार कर अपने को हलका क्यों कर रहे हो?"

अभय कान लगा कर ऊपर से सुन रहा था। पंडितजी के प्रति कहे गये इस अन्तिम वाक्य ने उसके खौलते हुए रक्त में विद्युत की तेज धारा दौड़ा दी। वह अपने को अधिक रोक न सका। कूद पड़ा ऊपर से एक के ऊपर। उसको लिए दिये वह जमीन पर लुढ़क पड़ा। पर शीघ्र सम्हल कर एक ऐसा वार नाक पर किया कि वह बेहोश हो गया। पंडितजी के कानों में किसी के गिरने और आगन्तुकों के घबराहट का स्वर पड़ा। उन्होंने

स्थिति पर बिना विचार किये, लाठी उठाया और सांकल खोल दी।

अभय उठा भी नहीं था कि उस बेहोश व्यक्ति के अन्य साथी अभय पर टूट पड़े। इतने में ही पंडितजी निकल पड़े। उन्होंने तुरन्त परिस्थिति समझ ली और उन आदमियों पर बाज की तरह टूट पड़े। एकाएक इस ओर एक नई विपत्ति से उन्होंने इसका अन्दाजा बड़े रूप में लगाया। वे पंडितजी के लाठी प्रहार को सह न सके। क्षण क्षण पर उनकी लाठी बरस रही थी। जिसको जिधर रास्ता मिला भाग निकले।

सबके भाग जाने पर पंडितजी ने अभय को उठाया। उसे काफी चोट लग चुकी थी। अभय की निर्भीकता और साहस को उन्होंने मन ही मन सराहा। इतने में बासन्ती भी वहां आ पहुँची। उसे अभय के घायल हो जाने का बहुत दुःख हुआ। उसकी आंखों में आंसू आ गये और ढुलक पड़े जमीन पर, पर रात्रि की काली में कौन देख सकता था कि उसके हृदय में अभय के लिए आत्मोत्सर्ग करने की कितनी शक्ति निहित है ?

घर में ले जाकर अभय को खाट पर सुला दिया। पंडितजी को भी एकाध चोट लगी थी। बासन्ती ने कपड़े भिंगो कर सब धो धाकर साफ किया। पंडितजी के आदेशानुसार एक लेप चढ़ा दिया गया।

पंडितजी तो बिस्तर पर जाकर सो गये पर वासन्ती रात्रि-पर्यन्त अभय के सिरहाने बैठी रही। वह सोचती रही अभय के लिए अपने को होम कर देना—पर कैसे ?

—:०:—

१८

अन्धकार मानो दुनिया को अपने में समेटे हुए था। हाथ को हाथ सूझना कठिन था। आक्रमणकारी बेतहाशा मुंह की खाकर भागे जा रहे थे। कहीं फिर न पकड़ जायं, इस डर से ठोकर खाकर गिर जाने की भी परवाह न थी—परवाह था तो सकुशल घर पहुँच जाने की। उन्हें क्या मालूम था कि विपत्ति, विपत्ति साथ लेकर आती है? सहसा एक कर्कश-ध्वनि आयी "रुक जाओ।" ध्वनि उनके दौड़ने वाली दिशा से ही आयी थी, पर उन्हें यह नहीं सुनाई पड़ी। अभी थोड़ी ही दूर गये थे कि सामने से आते हुए व्यक्ति से एक टकरा गया। दूसरे ही क्षण

उस सामने से आते हुए व्यक्ति की बलिष्ठ कलाई उसकी कलाई पर पड़ी और उसे यह अनुभव हुआ कि व्यक्ति मुझसे शक्ति में कहीं अधिक है। वह कांपता हुआ खड़ा हो गया। एक आवाज अपने साथी को ठहरने के लिए दी, पर वह कब रुकने वाला था। न रुका—न रुका।

आगन्तुक ने दृढ़ स्वर में उससे प्रश्न किया—"कहां से भागे आ रहे हो? सच २ बता देने पर दण्ड नहीं मिलेगा। अभय-दान देता हूँ।"

आक्रमणकारी कांपता हुआ मौन ही रहा।

आगन्तुक ने पुनः कड़क कर पूछा—"बताता है या नहीं, मेरे पास अधिक समय नहीं। यदि नहीं बतायेगा तो इसी समय तुझे यमलोक पहुँचा दूँगा।"

'यमलोक' के नाममात्र से उसे जैसे अपने प्राण निकलते हुए मालूम पड़े। क्षणमात्र में उसने सब कुछ स्थिर कर लिया। कम्पित स्वर में वह बोला—"हम बासन्ती का अपहरण करने गये थे।"

"किसकी आज्ञा से?"

"रणजीत बाबू की।"

आगन्तुक की मुखाकृति के परिवर्तित भाव से, यदि अन्धकार न होता तो आक्रमणकारी सब कुछ समझ जाता, पर वे भाव अन्धकार ही में विलीन हो गये। आगन्तुक एक बार सिर

से पैर तक क्रोध में कांप उठा—दांत पर दांत जा लगे। कट-कट की ध्वनि हुई और तुरन्त फिर प्रश्न हुआ—

"बासन्ती इस समय कहाँ है?"

"शंकर पंडित के घर।"

"उसे तुम ला नहीं सके।"

"नहीं।"

"क्या कारण"

"उन्होंने अकस्मात् आक्रमण कर दिया, जिससे हम सम्हल न सके और भाग खड़े हुए।"

आगन्तुक को कुछ शान्ति मिली। आक्रमणकारी को वह साथ लेता गया। उससे कहा—यह याद रखना कि कल तुम्हारी साक्षी ली जायगी और यदि तुम सत्य उगल सके तो तुम स्वतंत्र हो, यदि विचलित हुए तो मौत तुम्हारा आलिंगन करेगी।

× × × ×

अभय ने बासन्ती के उड़ा ले जाने के षड़यन्त्र को पहले से ही भांप लिया था। उसने सुरेन्द्रसिंह को सूचित कर देना उचित समझ एक अश्वारोही के द्वारा यह समाचार कहला भेजा था। यह समाचार उन्हें संध्या को मिला। सन्यासिनी से बिना मिले ही, वे उसी घोड़े पर चल पड़े। गांव की सीमापर पहुँच घोड़े को एक पेड़ से बांध दिया। घोड़े की टाप से तो लोगों को यह ज्ञान हो जाता कि अवश्य कोई न कोई जमींदार

का व्यक्ति आया है। अतः पैदल ही शंकर पंडित के मकान की ओर चल पड़े। उस समय रात एक बज चुका था। यथा समय तो नहीं पहुँच सके, पर मार्ग में ही एक आक्रमणकारी को पकड़ लेने में उन्हें सफलता मिली।

प्रातःकाल होते ही गांव में यह समाचार फैल गया कि जमींदार के चाचा साहब पधारे हैं। रणजीत को तो इस समाचार से जैसे काठ मार गया। उसे इस समय इनका आना बहुत बुरा मालूम हुआ। चिन्ता ने उसे मथना आरम्भ कर दिया। सोचने लगा—चचा के एकाएक आनेका कारण? रात्रि में बिना सूचना दिये आने का मतलब अवश्य कोई अनहोनी बात है। बासन्ती के उड़ा ले जाने की बात तो कहीं उनके कानों तक नहीं पहुँच गई? उँह! कैसे पहुँचेगी? जब वहां मेरा आदमी गया ही नहीं। यदि आदमी गया होता, तो संभव है फूटकर उनसे कह देता। ऐसे ही आ गये होंगे। जी ऊब गया होगा? और कारण हो ही क्या सकता है? इन्हीं विचारों में वह इतना लीन हो गया कि उसे नित्यक्रिया तक की याद न रही। सहसा घबड़ाते हुए एक व्यक्ति ने कमरे में प्रवेश किया।

उसपर दृष्टि पड़ते ही रणजीत चौंक पड़ा। वह तो समझे हुए था कि बासन्ती को मेरे आदमी उड़ाकर किसी सुरक्षित स्थान में छोड़ आये होंगे। पर उसकी भयातुर मुद्रा को देख,

रणजीत की जिह्वा जैसे तालू से सट गयी। बोलने का प्रयत्न करने पर भी बोलने में अपने को असमर्थ पा रहा था। सूखते हुए होठ को बार २ जीभ निकाल कर तर कर रहा था। रणजीत की इस विवशता को आनेवाले व्यक्ति ने हलका कर दिया। रणजीत को आश्चर्यचकित-सा अपनी ओर देखते हुए, उसने कहा—"हुजूर ! बासन्ती को हम नहीं ला सके।"

"क्यों ? क्या कारण ?" अकस्मात् मुँह खुला और रणजीत ने घबड़ाहट के स्वर में पूछा।

"मालूम होता है, हमारे षड्यन्त्र का पता उन लोगों को लग गया था। वे सतर्क थे। एकाएक हमपर टूट पड़े। एक का तो पता नहीं। हम दो साथ २ भागे। पर..."।

'पर...पर क्या...?" बीच ही में बात को काटते हुए अधीरता में रणजीत पूछ बैठा।

"उसे एक अज्ञात व्यक्ति ने पकड़ लिया। न मालूम कौन था वह।"

रणजीत का माथा ठनका। वह भय से पसीने २ हो गया। आने वाला यद्यपि उसके अन्तरंग मित्रों में से था, पर इस समय वह भी उसे शत्रु सा मालूम पड़ा। उसे अपने चारो ओर शत्रुओं का ही जाल बिछा हुआ मालूम पड़ा। उस जाल से कैसे छूटे ? कौन छुड़ाये ? बुरे समय में और बुरे कार्य में क्या किसी ने सहायता पाकर कभी निस्तार पाया है ? बेचारा

अपनी असफलता पर अपने आप को ही कोसता हुआ विचार-मग्न हो गया। आया हुआ व्यक्ति चला गया।

× × × ×

भोजनादि से निवृत्त हो सुरेन्द्रसिंह ने प्रहरी को आवाज दी। प्रहरी हाथ जोड़कर सामने आ खड़ा हुआ। उन्होंने पूछा—

"शंकर पंडित का घर देखा है तुमने ?"

"भला उन्हें कौन नहीं जानेगा बाबूजी ? वे तो देवता हैं देवता।"

"अच्छा, तो उनके घर जा और कहना कि सुरेन्द्रसिंह ने श्रीमान् को याद किया है।"

प्रहरी को आश्चर्य हुआ। वह यह समझने का प्रयत्न करने लगा कि आखिर पंडितजी को आते ही बुलाने का क्या कारण हो सकता है ? बाबूजी उनका कुछ अहित तो नहीं करेंगे ? नहीं—नहीं ! ऐसा नहीं हो सकता। ये तो बड़े सज्जन व्यक्ति हैं। वे भी तो सज्जन हैं। किसी का बुरा नहीं सोचते तो उनका बुरा कौन सोचेगा ? इसी उधेड़बुन में अभी वह ज्यों का त्यों खड़ा रहा। अकस्मात् सुरेन्द्रसिंह की आवाज "अभी यहीं खड़ा है—जा जल्दी बुला ला।" से उसकी विचारधारा भंग हुई और वह अभिवादन कर दौड़ पड़ा पंडित जी के घर की ओर।

जिस समय प्रहरी घर पर पहुँचा, पंडितजी वासन्ती की

सहायता से अभय को मरहमपट्टी कर रहे थे। प्रहरी को अकस्मात् आया देख पंडितजी ने आश्चर्य से पूछा—"क्या नवीन आज्ञा लेकर आये हो? निर्वासन की तो नहीं?"

प्रहरी खिलखिला पड़ा और पंडितजी भौंचक हो गये। कुछ मतलब नहीं समझ सके। पंडितजी को इस तरह अधिक देर तक आश्चर्य के भँवर में न घुमाकर उसने कहा—"पंडित जी! आप को जमींदार बाबू ने याद किया है।"

"कौन जमींदार? उस दुष्ट से कह दे कि मुझे सामने न बुलावे नहीं तो मेरे रक्त में भी ऊष्णता आ जायगी, जिसका परिणाम भयंकर होगा।"

"रणजीत ने नहीं वरन् सुरेन्द्रसिंह ने आप को बुलाया है, उनके चचा ने।"

पंडित जी को कुछ राहत मिली। मरहमपट्टी से अवकाश पाकर वे चलने की तैयारी करने लगे। कपड़े आदि पहन कर वे द्वार के बाहर निकले ही थे कि अभय ने आवाज दी "मैं भी साथ चलूंगा।"

"नहीं बेटा, अभी तेरा घाव सूख नहीं पाया है। अधिक हिलने डोलने से शीघ्र अच्छा नहीं होगा। मैं अभी लौटकर आता हूँ।"

"नहीं गुरुदेव! अकेले नहीं जाने दूंगा। हो सकता है,

दुश्मन ताक में कहीं बैठा हो। साथ रहूँगा तो दो दो हाथ लड़ूंगा तो।"

'पर मैं कमजोर थोड़े ही हूं। और साथ में प्रहरी भी तो है। जाओ आराम से लेट रहो।"

पंडित जी के समक्ष अधिक न बोलना ही अभय ने उचित समझा और चुपचाप भीतर लौट गया।

सुरेन्द्रसिंह तो प्रतीक्षा में थे ही। पंडित जी को आया देख उनकी अन्तरात्मा जैसे नाच उठी। प्रसन्नता में विभारे हो दौड़कर उन्होंने उनको छाती से लगा लिया। पंडितजी उनके इस आकस्मिक कार्य से बड़े आश्चर्य में पड़ गये। बोले—

"सुरेन्द्र बाबू! यह सब क्या है? आखिर आप मुझसे क्या चाहते हैं?"

"चाहता हूँ कि आप अपने को पहचानें। अपने को विस्मृति के सागर में डुबाकर निश्चिन्त हो जाने से ही, अपने कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती। आपने अपनी पत्नी को भूलकर क्या अच्छा किया है?..."

"पर आप कह किससे रहे हैं?"

"कामिनी देवी के पति, अपने और अपने भाई के मित्र विमलेन्दु भट्टाचार्य से अपने को अब अधिक समय तक अंधकार में रखकर स्वयं को धोखा न दें। मैं अच्छी तरह पहि-चान गया हूँ और आपको आपकी पत्नी से मिलाकर अपने

कर्तव्य की पूर्ति करूंगा? बड़ी कठिनाई और भाग्य से लक्ष्मी स्वरूपा देवी से भेंट हुई है।"

पंडितजी पत्नी के समाचार को सुनते ही आल्हाद में उछल पड़े। सुरेन्द्रसिंह के पैरों पर गिरने के लिये झुके ही थे कि उन्होंने दोनों हाथों के सहारे उन्हें उठा लिया और बोले—

"मैं आज कई माह से उस देवी की ही छत्रछाया में रहा हूं। वे इस समय एक अनाथाश्रम का संचालन कर रही हैं। मैं कल यहां से अवश्य चलूंगा।"

पंडितजी को यह 'कल' जैसे युग के समान मालूम पड़ा। उनके हृदय में तो इस समय तूफान उठकर उन्हें विचलित कर रहा था। वे चाहते थे अभी उस देवी के चरणों पर गिरकर क्षमा मांगना। वे उद्विग्नता को न रोक सके। तुरंत बोल पड़े 'कल क्यों? आज ही क्यों नहीं चलते?"

सुरेन्द्रसिंह अट्टहास कर उठे और पंडितजी लज्जित हो गये। सुरेन्द्रसिंह ने कहा—"पंडितजी! अभी आज मुझे यहां बहुत काम करने हैं। बासन्ती और अभय को आप इतनी जल्दी भूल गये। उन्हीं का तो आज फैसला करना है।"

"कैसा फैसला?"

"रणजीत को उसके कार्य के लिये दण्ड देना है।"

"पर आप को क्या अधिकार है?"

"है, तभी तो साहस कर रहा हूं।"

"वह कैसे ?"

"सुनिये ! यह जमीन जायदाद रणजीत की नहीं, कामिनी की है। किशोरसिंह ने कामिनी के नाम सब जायदाद लिख दी थी। और यह सब मेरे षड्यन्त्र से हुआ। कामिनी देवी को बचाने और भाई को सुमार्ग पर लाने के लिये और दूसरा कोई मार्ग ही नहीं था। कामिनी देवी ने कामान्ध भाई को आसमान पर चढ़ाकर पृथ्वी पर दे मारा। उनका होश ठिकाने पर आ गया, पर धक्के को सह न सकने के कारण शीघ्र काल कवलित हो गये। देवी को जमीन जायदाद से क्या प्रयोजन ! वे उस दान पत्र को मेरे हवाले कर एक रात न मालूम कहां चली गयीं। मैंने उन्हें ढूंढ़ने में कोई उपाय नहीं छोड़ा, पर सब व्यर्थ हुआ। अकस्मात् मिल गयीं। बासन्ती के अपहरण के समाचार से मैं सीधा यहां चला आया। कामिनी देवी ने मुझसे कहा था कि यह दानपत्र है, इसके अब से आप ही रक्षक हैं। मै यहां अधिक दिन तक न टिक सकूंगी। यदि किशोरसिंह न रहें तो उनके लड़के को आप सब कुछ भोगने दें, पर दान पत्र न दें। जिस समय वह कुमार्ग पर चले, आप को अधिकार है कि आप उसे उसकी सम्पत्ति से वंचित कर दें। मैं जानता था कि रणजीत कुमार्ग पर तेजी से अग्रसर हो रहा है। पर एक बात में मैं विवश था।

मेरे कड़ाई करने पर वह कह सकता था कि जमीन जायदाद मेरी है, आपको मेरे कार्यों में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं।···"

"पर कामिनी ने दानपत्र तो आपको दे दिया था, फिर क्या कठिनाई आ पड़ी।"

"वह यह कि कामिनी देवी के हाथ का कोई लिखा सबूत नहीं था और वह लापता थीं। इसीलिए तो उन्हें ढूंढ़ने में इतना तत्पर रहता था। भाग्य से मिल गयीं। नहीं तो यह सब फूंक डालता। आज सब फैसला कर दूंगा।"

पंडितजी सुरेन्द्रसिंह की दृढ़ता और कार्यदक्षता पर मन ही मन प्रसन्न हुए और उनकी आंखों में स्नेह के आंसू छलछला आये, पर सुरेन्द्रसिंह न देख सके। वह तो प्रहरी को आदेश दे रहे थे—

"जाओ ! रणजीत को अभी बुला लाओ।"

प्रहरी चला गया।

× × ×

चाचा का आदेश सुनकर रणजीत को किसी असंभाव्य घटना के घटित होने का आभास हुआ। उसका हृदय विचारों का आगार बन गया—धड़कन तीव्र वेगसे चलने लगी। घबराहट में हाथ पैर कांपने लगे। मस्तिष्क विचारोंके बोझ से फटने-सा लगा। इच्छा हुई न जाने की। कर ही क्या लेंगे उसने क्षणमात्र

में सोच डाला, पर उनके व्यक्तित्व के स्मरणमात्र से यह विचार डगमगा कर तिरोहित हो गया। उसने बड़े प्रयत्न और साहस से अपने को संयत किया। कपड़े बदले और प्रहरी के साथ चल पड़ा। जैसे २ वह चचा के निवास स्थान के पास पहुँच रहा था, वैसे २ उसके हृदय की धड़कन तेज होती जा रही थी। मुखाकृति का सौन्दर्य फीका पड़ता जा रहा था—कोई भी देखता तो, झट कह देता कि यह महान् अपराधी है।

द्वार पर पहुँचकर क्षणमात्र के लिये रुका—फिर बढ़ा। भीतर पहुँच कर उसने जो कुछ देखा उससे वह स्तब्ध हो गया। पंडित शंकरदत्त को उच्चासन पर बैठा देख, उसका माथा ठनका। आनेवाली विपत्ति के लिए अपने के कठोर बनाकर उसने चाचा को प्रणाम किया और एक ओर बैठने लगा। सुरेन्द्रसिंह ने कड़क कर कहा "पंडितजी को नमस्ते करो।"

चाचा की इस कड़क में उसे विद्युत्-सी शक्ति जान पड़ी। वह सिहर उठा। मन कह रहा था—जिसे शत्रु समझता हूँ उसको नमन कैसे करूँ! पर चाचा की कठोर आज्ञा के सामने मन की हार हुई। उसने बेमन से कहा—'नमस्ते।"

"बासन्ती के अपहरण के लिए तुमने आदमी भेजे थे?"

इस प्रश्न ने उसके आगे अन्धकार-सा फैला दिया। उसका मन जैसे भीतर-भीतर बैठने लगा। जिसकी उसे आशा नहीं थी, वही सामने उपस्थित हुआ देख, वह एकबार विचलित हो

उठा। पर शीघ्र ही उसके कुसंस्कृत मन ने उसे आगे ढकेला। उसने सोचा—मैदान में उतरा हूँ तो, मुझे पीछे नहीं हटना चाहिए। पीछे हटने का मतलब है पराजय। और पराजय ही विनाश है। मेरे विरुद्ध सबूत ही क्या है। कौन साक्षी के रूप में खड़ा होगा मेरे सामने? और इस विचार-मात्र से वह अभय होकर बोला—"बिल्कुल झूठ है यह आरोप चाचाजी। मैंने कोई आदमी नहीं भेजा था। भला मैं ऐसा कर सकता हूँ?" इतना पतित आपने मुझे कैसे समझ लिया? मुझे इसके लिए महान दुःख हो रहा है। अवश्य किसी शत्रु की यह चाल है।"

"शत्रु दूसरा कोई नहीं—तुम्हारा मन है। पाप करने वाला यदि पाप को छिपाता है तो वह और पाप करता है। पाप कभी छिपाने से नहीं छिपता—वह तो मनुष्य के आगे २ चलता है—पीछे नहीं। आगे चलने वाला, आंख वालों की दृष्टि से ओझल नहीं हो सकता। तुम्हारे छिपाने का यह व्यर्थ प्रयास है। पाप साकार होकर सब लोगों तक पहुँचा चुका है। तुमने वासन्ती के अपहरण करने में कोई कसर नहीं रख छोड़ी है...।"

"झूठ—सफेद झूठ। अब भी आप शत्रुओं के चक्कर में है—बिना सबूत के आरोप नहीं टिकता चाचाजी।" जरा आवेश में वह बोला।

"सबूत भी मेरे पास है"—और सुरेन्द्रसिंह ने रात वाले आक्रमणकारी को उपस्थित करने का आदेश दिया।

रणजीतसिंह को जैसे पक्षाघात-सा लगा। वह थरथर काँपने लगा। मस्तिष्क चक्कर खाने लगा। लड़खड़ा कर गिरते-गिरते बचा। चाचा को रणजीत की इस दयनीय दशा पर दुख हुआ। उन्होंने दूसरे प्रहरी से उसे बैठाने के लिए कहा।

कुछ देर बैठे रहने के बाद रणजीत को कुछ स्वस्थता मिली—वह चारों ओर इस तरह देखने लगा जैसे कोई भयानक स्वप्न देख, सोते से जग उठा हो। शृङ्खलाबद्ध अपने चाटुकार को सामने देख उसकी आँखों के सामने पुनः अन्धकार छा गया और वह चेतनाहीन हो एक ओर लुढ़क पड़ा।

कई लोग पंखा लेकर दौड़े। पंखा झला जाने लगा। दम-पर-दम पानी के छींटों से उसे होश में लाने का प्रयत्न किया जाने लगा। आध घंटे के अकथ प्रयत्न के बाद रणजीत उठ बैठा, पर सिर ऊँचा न उठा सका। कैसे उठाता? अपराध सिद्ध जो हो चुका था।

सुरेन्द्रसिंह ने रणजीत के लिये इतनी ही दण्ड आलम समझा। उन्होंने उसे उद्देश कर कहा—"बेटा रणजीत! मैंने कहा था—तुम्हारे पिता ने मरते समय कहा था, कि कुमार्ग पर पैर न रखना, नहीं तो कामिनी देवी का श्राप व्यर्थ न जायगा।

पर तुमने सबकी अवहेलना की। जिसका परिणाम आज तुम्हारे सामने है। जमीन जायदाद, यह जो तुम भोग रहे हो, तुम्हारी नहीं है—यह है कामिनी देवी की। इसपर अब से तुम्हारा कोई अधिकार नहीं रहा। तुम्हारे भरण-पोषण का भार भी अब उन्हीं की दया पर आश्रित है।....''

रणजीत इस अन्तिम वाक्य से चिहुँक उठा। उसे पुनः असुरी विचारों ने घर दबाया। वह आवेश में बोल उठा—''मैं किसी पर आश्रित नहीं! यह झूठ है कि यह सम्पत्ति उनकी है—उनकी है तो उन्होंने अभी तक इसकी देखभाल क्यों नहीं की? यह सब मेरे विरुद्ध षड़यन्त्र हो रहा है—मैं अपनी सम्पत्ति किसी के हाथ जाते न देख सकूँगा—आप भी शत्रुओं की ओर.....''

सुरेन्द्रसिंह ने आगे की बात को बिना सुने ही उठकर तड़ा-तड़ रणजीत के गालों पर तीन चार चांटे जमा दिये। क्रोध में जमाये हुए चांटे से रणजीत तिलमिला उठा। उसे भी क्रोध आया अवश्य, पर उसे गले के नीचे उतारते हुए उसने कहा—''चांटे लगाकर, जबरदस्ती आप मुझपर विजय पाना चाहते हैं। पर यह आप याद रखें कि जमीन मेरी है और मेरी ही रहेगी। देखूँ कौन इसे मुझसे छीन सकता है?''

''मैं छीन सकती हूँ।'' आखिरी शब्द को आगन्तुका ने सुन लिया था और सारी परिस्थिति उनकी समझ में आ गयी थी।

सभी लोगों की दृष्टि आगन्तुका की ओर घूम गयी। सभी की आंखों में आश्चर्य नाच उठा—वाणी मूक हो गयी। शंकर पंडित ने गौर से देखा। आंखें बन्द कीं—फिर खोलीं। हाथों से मलकर साफ किया। उनका संशय सत्य में प्रगट हुआ। वे आगन्तुका की ओर बढ़े। आगन्तुका का ध्यान अभी पंडितजी की ओर नहीं गया था। वह तो रणजीत को देख रही थी, ठीक किशोरसिंह के प्रतिरूप में। अकस्मात् दृष्टि पड़ते ही आगन्तुका चीख उठी और बेहोश हो पंडितजी के चरणों पर गिर पड़ी।

किसी के भी समझ में यह रहस्य नहीं आया, पर उपस्थित लोग उत्सुकता से आगन्तुका के होशमें आनेकी बाट देखने लगे। प्राथमिक उपचार से ही आगन्तुका ने आँखें खोल दीं, पर उन आखों में न मालूम कहां का समुद्र उमड़ पड़ा था। आंसुओं की अविरल धारा बह रही थी और पंडित जो धोती के छोर से पोछते जा रहे थे। पंडितजी की आंखों से निकलते हुए आंसू आगन्तुका के कपोलों को भिगो रहे थे। काफी रो चुकने पर दोनों के हृदय को शान्ति मिली। परस्पर क्षमा-याचना का विनिमय हुआ। सुरेन्द्रसिंह की आंखों से भी आंसू रुक नहीं रहे थे। सभी लोगों को अश्रुसिक्त देख, उन्होंने अपने हृदय को संयत किया। आंसुओं को पोछ डाला। पंडितजी तथा आगन्तुका को सुरेन्द्रसिंह ने आदरपूर्वक बैठाया और रणजीत को उद्देश्य कर बोले—

"रणजीत! अब तुम्हारा मिथ्याभिमान और आंखों का

परदा दूर हो जायगा। देखो ! यह आगन्तुका ही कामिनी देवी हैं। यह सब सम्पत्ति इन्हीं की है और यह देखो, मेरे हाथ में यह दानपत्र है। अब तक यह मेरे पास था। आज उसके वास्तविक उत्तराधिकारी को वापस दे रहा हूँ। यदि तुम चाहते हो कि तुम्हारा भविष्य उज्वल हो और चाहते हो कि दर दर की ठोकर न खाकर आराम से जीवन निर्वाह कर सको, तो इनके पैरों पर गिरकर क्षमा मांगो। मुझे विश्वास है वे तुम्हारा पुत्रवत् पालन करेगीं।"

रणजीत समझ गया कि चाचा का आरम्भ से कहना न मानकर मैंने अपने पैरों में स्वयं कुल्हाड़ी मारी है। वह कामिनी देवी के व्यक्तित्वमात्र से इतना प्रभावित हुआ कि उसे अपने में आत्म-परिष्कृत होने का आभास मालूम हुआ। वह दौड़ कर कामिनी देवी के चरणों पर गिर पड़ा। बोला-"माँ ! मेरी रक्षा करो। मैं तुम्हारा हूँ, तुम मेरी माँ हो।"

कामिनी देवी ने रणजीत की पीठपर वात्सल्य का हाथ फेरा और उसे अभयदान दिया।

परिशिष्ट

अभय दो चार दिनों में स्वस्थ हो गया। सुरेन्द्रसिंह ने अभय के कार्यों से प्रसन्न होकर, उसे जमींदारी का विशेष संरक्षक और निरीक्षक नियुक्त कर दिया-वेतन प्रतिमाह १००) रुपया नियत कर दिया गया। कामिनी देवी के उद्योग से उसका विवाह आश्रम की, उसी के जाति की एक बाल विधवा से हो गया।

बासन्ती को पंडित शंकरदत्त और सुरेन्द्रसिंह ने पुनर्विवाह कर लेने के लिये बहुत समझाया। शास्त्रों के अनेकों उदाहरण उसके सामने रखे, पर उसने किसी की भी न सुनी। विवश हो

कामिनी देवी ने उसे 'अनाथाश्रम' की विशेष कार्यकर्त्री नियुक्त कर दिया। वह अपना अधिक समय ईश्वरोपासना में और शेष समय 'अनाथाश्रम' की उन्नति में देने लगी। कामिनी देवी की छत्रछाया में रहकर बासन्ती ने यद्यपि आश्रम को अकेले चला लेने की काफी योग्यता प्राप्त कर ली थी, तथापि कामिनी देवी ने आश्रम से नाता नहीं तोड़ा। वे माह के कुछ दिनों तक पति की सेवा में जमींदार साहब के गांव में रहती और शेष दिन पहाड़पुर के आश्रम में।

स्कूल का उद्घाटन् बड़े समारोह के साथ सम्पन्न हुआ। विद्वान और योग्य शिक्षकों को नियुक्त किया गया। रणजीत भी इन्ट्रैंस पास था। अतः उसे भी एक जगह स्कूल में देदी गयी। विशेष रियायत उसके साथ यह थी, कि उसकी नियुक्ति १५०) प्रतिमाह पर हुई। अपने पितृभूमि में न रहकर वह कामिनी देवी के यहाँ ही रहने लगा। पंडित शंकरदत्त उस स्कूल के प्रधानाध्यापक के पद पर रहे।

गांव में—गांव की उन्नति के लिए एक पंचायत की आयोजना हुयी जिसके प्रधान बनाये गये राय महोदय। उन्होंने दिल से गांव की उन्नति में योग दिया। जांत-पात, लड़ाई झगड़ा, वैमनस्य आदि धीरे २ दूर हो गये। अब गांव में भ्रातृभाव की नदी बह रही थी।